भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था ।

ईस्वी सन् १९१२ में बनारस में स्थापित हुई थी तब से अबतक बनारस कलकत्ता और श्री महावीर जी में रहकर शुद्धता पूर्वक अपने पवित्र प्रेस में छपाकर दि० जैनाचार्य प्रणीत प्राकृत संस्कृत हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन करती आरही है।

संस्था व्यापारिक नहीं है धार्मिक पुरुषोंने जैन धर्मके प्रचारार्थ स्थापित की है। इसमें जो लोग दान देते हैं, उनके द्रव्यसे ग्रंथ छपादिये जाते हैं और उनग्रंथोंपर दाताओंका नाम छाप दिया जाता है। दाताओंकी इच्छानुसार ग्रंथ विनामूल्य लोगोंको देदिये जाते हैं अथवा अल्प न्योछावर से देदिये जाते हैं और न्योछावर उठ आनेपर दूसरा ग्रंथ उनकेही नामसे पुनः छापदिया जाता है। इसतरह सदा कीर्ति और ग्रंथप्रचारका सिलसिला चलता रहता है इसलिये आपको यह लाभ लेना होय तो संस्थाके सहायक बनिये

निवेदक—

ब्र० पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ

मंत्री—भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था

श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीमदाचार्यवर भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित

रयणसार

स्व: क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज
(अर्थात् आचार्य सुधर्मसागर जी महाराज)

प्रकाशक—गृहविरतब्रह्मचारी
पं० श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
मंत्री—
भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था
माघ; वीर निर्वाण संवत् २४८३

जनवरी सन् १९५७

जीवनको साधुता की सी प्रवृत्तिमें ढाल लिया। इन पांच छः वर्षों में तो आप बिल्कुल निर्मोही से ही रहने लगे। आचार्य श्री वीरसागरजी का जैपुर में चौमासा सं. २०१२ में जब हुवा तो उस समय मिती मगसिर वदी एकम के रोज आपने क्षुल्लक के व्रत धारण कर गृह व कुडम्ब को भी सर्वथा त्याग दिया।

इस प्रकार आपने अपना मनुष्य जन्म को सफल किया और सर्व-साधारण को धर्म मार्ग पर चलने का आदर्श सामने रक्खा।

आपके सुपुत्र श्रीमहावीरसहाय लोंग्याने हर्षित हो यह ग्रंथ प्रकाशित कर वितीर्ण किया इसलिये वे धन्यवादके पात्र हैं।

माघवंदी २४८२

निवेदक

ब्र: श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था

श्री महावीरजी (राजस्थान)

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित

—रयणसार—

—०—

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसारं; सायारणयारधम्मीणम् ॥१॥

वर्धमान जिनदेवको, मनवचकाय त्रिशुद्ध ।
करि प्रणाम भासू सुमुनि-, श्रावकधर्म प्रसिद्ध ॥१॥

अर्थ—श्रीपरमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेवको मनवचनकायकी शुद्धिसे नमस्कार कर गृहस्थ और मुनी के धर्म का व्याख्यान करने वाला 'रयणसार' नामका ग्रन्थ कहताहूँ ॥१॥

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं
पुव्वाइरियक्कमजं; तं बोल्लइ जोहु सद्दिट्ठी ॥२॥

जो जिनवरने कहा, भाषा गणधर देव ।
अनुक्रम पूर्वाचार्य के; सम्यग्दृष्टि कहेव ॥२॥

जीवनको साधुता की सी प्रवृत्ति में ढाल लिया। इन पांच छः वर्षों में तो आप बिल्कुल निर्मोही से ही रहने लगे। आचार्य श्री वीरसागरजी का जैपुर में चौमासा सं. २०१२ में जब हुआ तो उस समय मिती मगसिर वदी एकम के रोज आपने क्षुल्लक के व्रत धारण कर गृह व कुटुम्ब को भी सर्वथा त्याग दिया।

इस प्रकार आपने अपना मनुष्य जन्म को सफल किया और सर्व साधारण को धर्म मार्ग पर चलने का आदर्श सामने रक्खा।

आपके सुपुत्र श्रीमहावीरसहाय लांग्याने हर्षित हो यह ग्रंथ प्रकाशित कर वितरण किया इसलिये वे धन्यवादके पात्र हैं।

माघवदी २४८२

निवेदक

ब्र: श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ

भारतीय जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था

श्री महावीरजी (राजस्थान)

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित

—रयणसार—

—o—

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं; सायारणयारधम्मीणम् ॥१॥

वर्धमान जिनदेवको, मनवचकाय त्रिशुद्ध।
करि प्रणाम भासूं सुमुनि-, श्रावकधर्म प्रसिद्ध ॥१॥

अर्थ—श्रीपरमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेवको मनवचनकायकी शुद्धिसे नमस्कार कर गृहस्थ और मुनी के धर्म का व्याख्यानं करने वाला 'रयणसार' नामका ग्रन्थ कहताहूँ ॥१॥

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं
पुव्वाइरियक्कमजं; तं वोल्लइ जोहु सद्दिट्ठी ॥२॥

जो जिनवरने कहा, भाषा गणधर देव।
अनुक्रम पूर्वाचार्य के; सम्यग्दृष्टि कहेव ॥२॥

अर्थ–सर्वज्ञ जिनदेव ने अपनी दिव्यध्वनिसे यथार्थ उपदेश दिया था, चारज्ञान के धारक श्रीगणधरदेवने उसी का विस्तार कर अल्पज्ञानी जीवों को समझाया था। उसके बाद आचार्यों ने उसी पदार्थ का निरूपण किया, इस तरह पूर्वाचार्यों की परंपरा चली आई। इस परिपाटी के अनुसार जो बोलता है, श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञ जिनदेव और गणधरदेवके पीछे उत्पन्न होने वाले आचार्यों ने भी वीतराग भाव से सर्वज्ञके वचनों का ही प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार जिन २ भट्टारक या गृहस्थों ने वीतराग विशुद्धभावों से सर्वज्ञ देवके वचनों को कहा है वे सब वचन सर्वज्ञदेवके ही हैं इसलिये वे सब वचन प्रमाणभूत हैं, सत्य मार्गानुसारी हैं, जिनागम हैं और श्रद्धा करने योग्य हैं। उन वचनों से जीवों का कल्याण होता है जो सर्वज्ञ देवके वचनोंको वीतरागभावसे पक्षपात रहित प्रतिपादन करता है वह सम्यग्दृष्टी है मोक्षमार्गानुसारी सत्य वचन कहने वाला प्रामाणिक है किंतु जो मुनि ब्रह्मचारी या पंडित जिनागम के वचनोंको अपने विषय कषाय मान बड़ाई रागद्वेष और पक्षपात भावों से अन्यथा प्ररूपणा करता है, अर्थ का विपरीत अर्थ करता है, वह मिथ्यादृष्टि जैनधर्म से बहिर्भूत है।

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छन्दं बोल्लई जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो॥३॥

मति श्रुत ज्ञानं सुवल सुछन्द; भाषै जिन उपदिष्ट।
जो सो होइ कुदृष्टि नर, नहिं जिनमारग इष्ट ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य मतिज्ञान या श्रुतज्ञान के अभिमान से श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित अर्थ को स्वच्छन्द (अपने मनकल्पित यद्वा तद्वा विरुद्धार्थ अथवा आगमके सत्यार्थ को छिपा कर मिथ्या) अर्थरूप कहता है वह मिथ्यादृष्टी है। वह जिनधर्म का पालन करता हुआ भी जैन धर्म से सर्वथा पराङ्मुख है, जैन धर्म से बहिर्भूत है, मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—जिनको बुद्धि व ज्ञानकी प्रखरता है परन्तु दर्शनमोहनीय कर्मका जिनके उदय है, ऐसे जीव जैनधर्म को धारण करके भी अपने ज्ञान के मिथ्या अभिमान से श्रीजिनेन्द्र-भगवान के द्वारा प्रतिपादित अर्थ के स्वरूप को अन्यथा (आगम के विरुद्ध) कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं।

जो विषय कषाय मान बड़ाई आदि स्वार्थ के वश होकर अथवा किसी कारण से राग-द्वेष के वश होकर ज्ञान के अभिमान से आगम के अर्थ को अपने मनकल्पित अर्थ के द्वारा अन्यथा प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यादृष्टी हैं।

स्वरूप-विपर्यास, भेद-विपर्यास, लक्षण-विपर्यास, कारण-विपर्यास से वस्तु का स्वरूप अन्यथा हो जाता है। जो रागी द्वेषी पक्षपाती मनुष्य कुशिक्षा प्राप्त कर ज्ञान के मद में विवेक और विचार रहित होकर विषयकषायोंकी पुष्टि के लिए जिना-

गम का अर्थ विपरीत करता है या अपने मन-कल्पित अर्थ को जिनागम का स्वरूप बतलाकर वस्तुस्वरूप में विपर्यास उत्पन्न करता है वह पापी है, जैनी हो कर भी जैन धर्म से बहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है। और जो मनुष्य सदाचारका नीति चारित्र और धर्म का लोप कर अपनी पाप-वासना को सिद्ध करने के लिए असदाचारको धर्म का स्वरूप बतलाकर जिनागम की साख देकर जिनागम पर अवर्णवाद लगाता है वह भी पापी जिनधर्म से बहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है।

जो मनुष्य तर्क या युक्ति के बल पर हिंसा झूंठ और पापाचरणोंको धर्म सिद्ध करता है तथा जो जिनागमको अपनी युक्ति पर ही सिद्ध करना चाहता है वह मिथ्यादृष्टी है।

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूव दो भेदं ॥४॥

समकित रतन सुसार मइ. कह्यो मोक्षतरु मूल।
सो निश्चय स्व स्वरूप तें, व्यवहार सु अनुकूल ॥४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ही समस्त रत्नों में सारभूत रत्न है और वह मोक्षरूपी वृक्ष का मूल है। सम्यग्दर्शन के निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन इस प्रकार दो भेद हैं।

भावार्थ—बाह्य और आभ्यंतरिक कारणों के निमित्त से जीवों के परिणामों में जो विशुद्धता प्राप्त होती है उससे

 प्रतीति आत्माभिरुचि और आत्मिक गुणों की श्रद्धा

का होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। तथा आत्मा के स्वरूप को व्यक्त करनेवाले सच्चे देव शास्त्र और गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

आत्मा अनन्त गुणों का पिंड है, उन गुणों में एक सम्यग्दर्शन भी आत्मा का गुण है। वह आत्मा को अपनी आत्मा के स्वभाव में स्थिर कराता है और उससे आत्मा अपने स्वरूप में परिणमन करता है, अपने आत्मगुणों में अभिरुचि करता है और परपदार्थों को अपने से भिन्न समझ कर अपनाता नहीं है यही सम्यग्दर्शन है।

भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्वरणो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥५॥

सात विसन भयमल रहित, विरत भोगभवदेह।
वसुगुण पूरण पंचगुरु, भक्ति सुदर्शन एह ॥५॥

अर्थ—सात व्यसन, सात प्रकार के भय और पच्चीस शंकादिक दोषों से रहित तथा संसार, शरीर, भोगों से विरक्तभाव और आठ निःशंकादिक गुणों सहित पंच परमेष्ठीमें भक्तिभावना रखना विशुद्ध सम्यग्दर्शन है।

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मरणइ गइदुक्खो होइ सद्दिट्ठी ॥६॥

निज शुद्धापण अनुरकत, बहिर अवस्थ न कोइ।
बुधमानत जिन मुनिधरम, समद्दिठि निरदुख होइ ॥६॥

अर्थ—जो विचारशील भव्यात्मा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अनुरक्त (तन्मय) होता है और पर पदार्थजन्य पुद्गलों की शुभाशुभ पर्यायों से विरक्त होता है, जो श्रीजिनेन्द्र भगवान् निर्ग्रन्थ (नग्न) गुरु तथा जिन धर्म को श्रद्धाभाव से भक्तिपूर्वक मानता है वह संसार के समस्त प्रकार के दुखों से रहित सम्यग्दृष्टी है।

भावार्थ—शुद्ध बुद्ध ज्ञायकैक स्वभाव परमवीतराग आत्मा के स्वभाव में तन्मय होकर देव धर्म गुरु की प्रतीतिसे वीतराग परिणति में स्थिर होने की भावना करना सो सम्यग्दर्शन है।

भयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं ।
जेसिं चउदालेदो ण संति ते होंति संदिट्ठी ॥७॥

भय मद मूढ़ानायतन, शंकादिक अतीचार।
विसन जासु नहिं चालचतु, सो समदिष्टी सार ॥७॥

अर्थ—जिनके आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष, सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पांच अतीचार ये चवालीस दूषण नहीं हैं वे सम्यग्दृष्टी हैं।

*उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा ।
एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥८॥

* यह गाथा प्राचीन लिखित प्रतियों में नहीं है तथा दोहा कवि ने दोहे नहीं बनाये हैं।

अर्थ—आठ मूलगुण और बारह उत्तर गुणों (बारह व्रत अणुव्रत, गुणव्रत शिक्षाव्रत) का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्व के दोषों का परित्याग, बारह वैराग्यभावना का चिन्तवन, सम्यग्दर्शन के पांच अतीचारों का परित्याग, भक्ति भावना, इस प्रकार दर्शन को धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावक के सत्तर गुण हैं।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचित्ता ।
रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता ॥६॥

देवसुगुरु श्रुत भक्ति जे, भवतन भोग विरत्त ।
जे रतनत्रय संजुगत, ते जन शिवसुख पत्त ॥६॥

अर्थ—जो जिनदेव जिनागम और निर्गंथ दिगम्बर गुरु को मोक्षमार्ग में आपक तथा आत्मा के कल्याण करने वाले समझ कर श्रद्धापूर्वक भक्तिभाव से सेवा करते हैं और जो संसार शरीर भोगों से विरक्त हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्न त्रय सहित हैं ऐसे भव्योत्तम मनुष्य ही मोक्षसुख को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनेसे रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है तथापि व्यवहार रत्नत्रय को धारण किये विना मोक्ष मार्ग की व्यक्तता नहीं है। जब तक सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं है तब तक साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी एक सम्यक्चारित्र के विना

अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त परिभ्रमण होसक्ता है परन्तु यथाख्यातचारित्रके होने पर स्वल्प समयमें ही केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिए मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिए व्यवहार रत्नत्रय धारण करने की परमावश्यकता है।

दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहं पि खिवणंपि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं ॥१०॥

पूजा शील उपवास व्रत, बहुधा अथ मुनिरूप।
समकित संजुत मोक्षसुख, बिन समकित भवकूप ॥१०॥

अर्थ—दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास अनेक प्रकारके व्रत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व सम्यग्दर्शनके होने पर मोक्ष-मार्ग के कारण भूत हैं और सम्यग्दर्शनके बिना जप तप दान पूजादि सर्व कारण संसारको ही बढ़ाने वाले हैं।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि॥

श्रावक धर्म सुश्रावगह, दान पूजजसुखानि।
ध्यानाध्ययन जती सुसुख, तिन बिन दुहू न मानि ॥११॥

अर्थ—सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और श्री देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो नित्य इन (दोनों) को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर पालन करता है वही है, धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी है तथा ध्यान और जिनागमका करना मुनीश्वरों का मुख्य धर्म है। जो मुनिराज

नहीं करता है और सुपात्रमें दान नहीं देता है तथा न भगवान की पूजा करता है किन्तु खाना पीना आदि सर्व भूलकर केवल धन कमाने में ही अपना जीवन पूर्ण करता है वह लोभी निरन्तर हिंसा आरम्भ आदि घोर पापों को ही संपादन कर संसार में भ्रमण करता है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ॥१३॥

यज्ञ करे जिन दान मुनि, देइ सकति अनुसार ।
समदृष्टी श्रावक धरम, सो उतरे भव पार ॥१३॥

अर्थ—जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिवस देव शास्त्र, गुरु की पूजा करता है और सुपात्र में चार प्रकार का दान देता है वह सम्यग्दृष्टी श्रावक है। दान देना तथा पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो भक्तिभाव और श्रद्धा पूर्वक अपने धर्म का पालन करता है सो मोक्षमार्गमें शीघ्र ही गमन करता है। संसार समुद्र से पार हो जाता है।

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

मनसुध पूजे तासफल, त्रिजग ईस करि पूजि ।
दान फलै त्रैलोक मधि, नियमसार सुख भूजि ॥१४॥

अर्थ—जो शुद्ध भावसे श्रद्धापूर्वक पूजा करता है वह फलसे त्रिलोकके अधीश व देवताओं के इन्द्रसे पूज्य हो

जाता है और जो सुपात्र में चार प्रकार दान देता है वह दान के फलसे त्रिलोक में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥१५॥

दीने भोजन मात्र दत, होत धन्य सागार।
पात्र अपात्र विशेष सत, दरशन कौन विचार ॥१५॥

अर्थ—भोजन (आहार दान) दान मात्र देनेसे ही श्रावक धन्य कहलाता है पंचाश्चर्य को प्राप्त होता है, देवताओं से पूज्य होता है एक जिनलिंगको देखकर आहार दान देना चाहिये। जिनलिंग धारण करने पर पात्रापात्र की परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—सर्वप्रकारके परिग्रह और आरंभरहित नग्न दिगम्बर जिनलिंगको धारण करनेवाले मुनीश्वरों को आहार-दान देनेके प्रथम यह विचार करना कि ये मुनीश्वर द्रव्यलिंगी हैं या भावलिंगी हैं जब तक पूर्ण परीक्षा न हो जायेगी तब तक इनको आहार नहीं देना चाहिये अथवा जिनलिंग धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों की परीक्षा कर आहारदान की प्रवृत्ति करना आदि समस्त विचार सम्यग्दृष्टिके लक्षण से विपरीत भाव समझने चाहिये।

परम निष्पृह—वीतराग—आरंभ परिग्रह रहित मुनीश्वरों के छिद्र देखना, अपनी बुद्धि और तर्क के द्वारा जिनलिंग के

विषय में आगम के विपरीत भावों को प्रदर्शन कर जिनलिंग धारण करने वाले मुनीश्वरों की परीक्षा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्म का उदय है। आहारदान प्रदान करने के लिये इस प्रकार कुचेष्टाओं के द्वारा जिनलिंगको धारण करने वालों के उत्साह और चरित्र को मंद करना भी मिथ्यात्वका कार्य है।

जिन लिंग को देखते ही उसको सुपात्र समझकर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक नवधागुण से आहारादि दान को देना श्रावक का धर्म है। श्रावक के लिये श्रीकुंदकुंदभगवान् की यही आज्ञा है कि जिनलिंग ही सुपात्र का चिन्ह है श्रावक को आहारदान के लिये जिनलिंग को देखकर फिर यह द्रव्य लिंगी कुपात्र है इस प्रकार की परीक्षा करने का कोई भी अधिकार नहीं है और न इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१६॥

दीजे दान सुपात्र गह, भोग भूमि सुरभोग।
अनुक्रमतें निरवान सुख, यह जिन कथन नियोग ॥१६॥

अर्थ—सुपात्र को दान प्रदान करने से नियमसे भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से ...ुख की प्राप्ति होती है ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान ने परमा- में कहा है।

खेतविसेसे काले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥१७॥

ज्यों सुखेत शुभ काल जो, बपै बीज भरपूर।
तैसें पात्र विशेष फल, जान सुदान अंकूर ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसका फल मनवांच्छित पूर्णरूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्र में विधिपूर्वक दान देनेसे सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ती होती है ॥१७॥

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥१८॥

इह निज वित्त सुबीज जो, बपे जिनुक्त सतखेत।
सो त्रिभुवनको राजफल, भोग तीर्थंकर हेत ॥१८॥

अर्थ—जो भव्यात्मा अपने (नीतिपूर्वक संग्रह किये हुये धन) द्रव्य को श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए सात क्षेत्र में वितरण करता है वह पंचकल्याण की महाविभूतिसे सुशोभित त्रिभुवनके राज्य सुख को प्राप्त होता है।

मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥१९॥

मात पिता सुत मित्र तिय, धन पट वाहन मेव।
विभवसार संसार सुख, जानो पात्रदत्त हेव ॥१९॥

अर्थ—माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि कुटुम्ब परिवार का

सुख और धन धान्य वस्त्र अलंकार रथ हाथी महल तथा महान् विभूति आदिका सुख एक सुपात्र दानका फल है ऐसा समझना चाहिये।

सत्तंगरज्ज णवणिहिभंडारसडंगबलचउद्द हरयणं।
छण्णवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सप्तराज अंग निद्धिनव, कोस अंग षट सेन।
रतन दुसत त्रिय छिनव, सहस जान पात्र दानेन ॥२०॥

अर्थ—सात प्रकार राज्य के अंग, नवनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय हाथी घोड़े सात प्रकारकी सेना, षटखंड का राज्य और छयानवे हजार रानी ये सर्व सुपात्र दानका ही फल है ऐसा समझना चाहिये।

सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुशील सुगुणचारित्तं। सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं॥ २१ ॥

सुकुल रूप लक्षण सुमति, शिक्षा सुगुण सुशील।
शुभ चरित्र सब अक्ष सुख, विभव पात्रदत्तलील ॥२१॥

अर्थ—उत्तम फल, सुन्दर स्वरूप शुभलक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोषशिक्षा, उत्तम शील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और समस्त प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री आदि सर्व सुख के साधन सुपात्रदान से प्राप्त होते हैं।

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२२॥

जो मुनि भोजन शेष भुक्, भाष्यौ जिनवर देव ।
भोगि सार संसारसुख, अनुक्रम शिव सुख हेव ॥२२॥

अर्थ—जो भव्यजीव मुनीश्वरों को आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसारके सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

भावार्थ—जिस थाल में मुनिराज को आहारदान दिया है उस थाल में बचे हुए अन्नको मुनिराज का प्रसाद (गुरु प्रसाद) समझ कर सेवन करना चाहिये । 'दानशासन' आदि कितने ही ग्रंथों में आचार्यों ने यही आज्ञा प्रदान की है कि मुनिराज की भुक्ति का अवशेष अन्न सेवन करने का फल मोक्ष की प्राप्ति है ।

सीदुण्ह वाउपिउलं सिलेसिमं तह परीसमव्वाहिं ।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ॥२३॥

शीत उसन अथवा विपुल, श्लेष्म परिश्रम व्याधि ।
कायकिलेश उपवासजुत, तिनहिं दान आराधि ॥२३॥

अर्थ—श्रीमुनिराज की प्रकृति शीत है या उष्ण, वायु वातरूप है या श्लेष्मारूप है या पित्तरूप है । मुनिराज ने कायोत्सर्ग और विविध प्रकार आसनों से कितना श्रम किया है; गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है, मुनिराज के शरीर

में ज्वर संग्रहणी आदि व्याधिकी पीड़ा तो नहीं है। कायक्लेश तप और उपवास के कारण मुनिराज के कण्ठ आदि में शुष्कता तो नहीं है इत्यादि समस्त बातों का विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधि दूध गर्म जल आदि देना चाहिये।

भावार्थ—मुनिराजकी प्रकृतिको विचार कर और द्रव्यक्षेत्र कालके स्वरूपको लक्षमें रखकर दान देना चाहिये। दाता के सात गुणों में सबसे मुख्य विवेक गुण माना है। विवेक और विचारके विना भक्तिभाव यद्वा तद्वा दान देने से विशेष हानि होने की संभावना और पापकर्मकी प्रवृत्ति हो सकती हैं। मुनिराज को गर्मी और शुष्कता बढ़ रही हो ऐसे समय में यदि विवेक और विचार के विना विशेष गर्म पदार्थ दान दिया जाय तो वह दान विशेष हानिप्रद ही होगा। इसी प्रकार आहार की सामग्री तैयार करने में विशेष हिंसा और मलिनताका विचार अवश्य ही रखना चाहिये।

हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहि णिराउलं ठाणं।
सयणा*सणमुवयरणं जाणिच्चा देइ मोक्खरवो ॥२४॥

हित मित भेपज पान भख, रहन निराकुल थान।
सज्या आसन उपकरन, जो दे शिवसुख मान ॥२४॥

*—शयनोपकरण—घास चटाई फलक (लकड़ी का तखत) आदि को कहते हैं। आसनोपकरण—लकड़ी का पाटला चौकी तखत बैठने के साधन को कहते हैं। ज्ञानोपकरण—शास्त्र और उसके साधक ज्ञान [illegible]ने वाले को कहते हैं। शौचोपकरण—पीछी कमंडल आदि को [illegible] हैं।

अर्थ—हित मित प्रासुक शुद्ध अन्न पान, निर्दोष हितकारी औषधी, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दानयोग्य वस्तुओं को सुपात्र की आवश्यकतानुसार सम्यग्दृष्टी प्रदान करते हैं।

भावार्थ—सुपात्र की प्रकृति और द्रव्य क्षेत्र काल के निमित्त से होने वाली रत्नत्रय की शिथिलता एवं दैवनिमित्त से होने वाले मोक्ष मार्ग के साधन के विघ्नों को दूर करने के लिये, मोक्षमार्ग को सतत प्रकट करने के लिये, धर्म की प्रभावना के लिये, जिनशासन की स्थिरता के लिये, असमर्थ सुपात्रों के उत्साह की वृद्धि और वात्सल्यभाव के लिये हित मित भोजन पान, मठ आदि निवास स्थान औषधि और उपकरण आदि सम्यग्दृष्टी को प्रदान करना चाहिये। जो भव्य जीव द्रव्य क्षेत्र काल की परिस्थिति को विचार कर उसके योग्य चार प्रकार का दान सुपात्र में देता है वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी है।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा।
गब्भभवेव मादा पिदु वा णिच्चं तहा णिरालसया॥२५॥

अणगारह वैयावरत, करैं जथा जो नित्त।
मात पिता जैसें अरभ, पाल निरालस चित्त॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भ से होने वाले बालक का भरण-पोषण लालन-पालन और सेवासुश्रूषा तनमन की एकाग्रता और प्रेमभाव से करते हैं, सर्वप्रकार से बालक को सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार सुपात्र की वैयावृत्य सेवा-

सुश्रूषा आहार पान व्यवस्था निवासस्थान आदि के द्वारा पात्र की प्रकृति कायक्लेश वातपित्त आदि व्याधि और द्रव्यक्षेत्र काल के उपद्रवों को विचार कर करनी चाहिये।

भावार्थ—यदि सुपात्र (मुनिमार्ग) सुरक्षित है तो धर्म सुरक्षित है। मुनिमार्ग के नष्ट होने पर धर्म का सर्व प्रकार से लोप हो जाता है। गृहस्थ धर्म की स्थिरता भी मुनिमार्ग पर ही अवलम्बित है। जिन शासन का प्रकाश मुनिमार्ग से ही है इसलिये जिस प्रकार हो सके सर्व प्रकार के प्रयत्नों से मुनि-मार्ग स्थिर करना चाहिये, मुनिमार्ग बढ़ाना चाहिये, सर्व-प्रकारकी आपदाओंसे सुरक्षित और निराकुल बनाना चाहिये।

मुनि धर्म को सर्व प्रकार से निराकुल करना ही वैयावृत्य है। मुनि धर्म का प्रभाव प्रकट करना सेवासुश्रूषा करना आहारदान देना वसतिका दान देना सो सर्व वैयावृत्य है *।

प्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणां फलाणसोहवहं।
ोहीणं दाणं जइ विमाणसोहासवं जाणे ॥२६॥

सतपुरुषनके दानकी, सुरतरु सुफल सुशोभ।
लोभी जनिको दान ज्यों, शवविमान सम शोभ ॥२६॥

* हाथ पैर दबाना, मल मूत्र दूर फेंकना, लार कफ आदि को दूर करना आदि यह सर्व वैयावृत्य है तथा मुनिराज के स्थान को साफ करना, बीमारी में टहल करना, शौच के लिये गर्म पानी देना, आहार ...ि पीछी कमंडलु शास्त्र आदि उपकरण देना, राजभय लोकभय ...्यादृष्टियों के उत्पात से बचाना यह सर्व वैयावृत्य है।

अर्थ—धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टी का दान कल्पवृक्ष के समान महान शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान मृतक पुरुष के विमान (ठठरी) के समान है।

भावार्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी पुरुषों का सुपात्र में दान, श्रद्धा, भक्ति और भावपूर्वक होता है इसलिये वह दान पंचाश्चर्य विभूति के साथ स्वर्गमोक्ष के महान फल को प्राप्त कराता है परन्तु लोभी पुरुष का दान मान बड़ाई की इच्छा से दिया जाता है इसलिये वह मुर्दा की ठठरी के समान है।

जस*किंत्तिपुण्णलाहे देइ सुबहुगंपि जत्थ तत्थेव।
सम्माइ सुगुण भायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

---

* अपनी मान बड़ाई और कीर्ति के लिये मिथ्यादृष्टि पुरुषों को मिथ्यामत की वृद्धि के लिये दान देना दीर्घ संसार का ही कारण है। अपने को जैन धर्म का श्रद्धानी जैनी मानने वाला श्रीमान् का अपनी ख्याति लाभ मान प्रतिष्ठा और खुशामद के गौरवमें पड़ कर मिथ्यात्व की वृद्धि के लिये मिथ्यामार्ग में दान प्रदान करना सो भी संसार का ही कारण है। जैनयात्रा प्रतिष्ठा संघ रथोत्सव जिनबिंवनिर्माण आदि के लिये प्रदान किया हुआ दान, मान बड़ाई के कारण विधवाश्रम स्कूल और बोर्डिंग आदि में लगा देना भी संसार का ही कारण है। जिन जिन कारणों से जैन धर्म का ह्रास, देव शास्त्र गुरु का अवर्णवाद और चारित्रका लोप होता हो ऐसे कारणों में दान देना संसार का ही कारण है। कुशिक्षा, हिंसा और पाप के कार्योंमें दान देना भी अयोग्यहै।

इसी प्रकार मान बड़ाई के लोभमें पात्र अपात्र परीक्षा का विचार किये बिना यद्वा तद्वा अपात्र कुपात्र में दान देकर खुश होना और

जस कीरति शुभलाभ को, जहं तहं बहुत सुदेहि ।
भाजन सुगुण सुपात्र को, नहिं विशेष जानेहि ॥२७॥

अर्थ—लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति-यश मान बड़ाई और पुण्य लाभ की इच्छा से कुपात्र आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनों में बहुत दान देते हैं परन्तु उनको सम्यक्त्वरत्न से सुशोभित अनेक गुणों की खानि ऐसे सुपात्र की पहिचान ही नहीं है ।

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवायपियवयणं ।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

जंत्र मंत्र तंत्र हि प्रवृति, पक्षपात प्रियवैन ।
पढू काल पंचम भरत, दान मोक्ष कछु है न ॥२८॥

अर्थ—यंत्र* मंत्र और तंत्र की सिद्धि और जनतामें अपनी प्रवृत्ति, पक्षपात की सिद्धि और खुशामदको लक्ष रखकर इस

सत्पात्र की निन्दा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्म के उदय से ही होता है । पंचमकालमें इसीलिये दानके फलसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं है । विवेक और ज्ञान के बिना उत्तम दान उत्तम पात्रमें किस प्रकार हो सकताहै ।

१—यंत्र मंत्र और कुवासना की इच्छासे दान उत्तम फल का देने वाला नहीं है । पक्षपात से यद्वा तद्वा पात्र अपात्रमें दिया हुआ दान उत्तम फलको प्राप्त नहीं करता है । खुशामद से मिथ्यादृष्टी अपात्र अनायतनों में प्रदान किया हुआ दान संसारको वढ़ाता है इसी प्रकार केवल मान प्रतिष्ठाके गौरवके लिये मिथ्यादृष्टी अपात्र और मिथ्या ..यत में दान देना संसार का कारण है ।

भरतक्षेत्र पंचम कालमें जो दान दिया जाता है वह दान मोक्षका साधन (मोक्ष फल का देने वाला) नहीं होता है।

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं ।
उहयाणं पुव्वजियकम्मफलं जाव होइ थिरं ॥२६॥

दानी के दालिद्र किम. लोभी महा ईसत्व।
दुहून पूर्वकृत कर्म फल. होत विपाक महत्व ॥२६॥

अर्थ—दानी पुरुषोंको दरिद्रता और लोभी पुरुषोंको महान विभव की प्राप्ति होना अपने २ पूर्वजनित कर्मों का फलहै इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि जब तक पूर्वकर्मों के फलका उदय है तबतक अपनी अवस्था पर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्मसेवन करते हुये भी दरिद्र क्यों होगया और पापी पुरुष धनवान क्यों होगये ?

भावार्थ—धर्मका सेवन सदैव सुखका प्रदान करने वाला है। दानका फल सदैव सुखकर है परन्तु पूर्वजनित पापकर्मोंका जो इस समय में उदय रूप होरहा है उसके निमित्तसे दरिद्रता आदि सर्व दुखकर सामग्री प्राप्त होजाय तो उसके भोगने में शोक और विषाद क्यों करना चाहिये ? परन्तु भावपूर्वक धर्मका सेवन विशेषरूपसे करना चाहिये जिससे पापकर्मोंका उदय पुण्य रूप होकर परिणमन करे।

धणधण्णाइ समिद्धं सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।
मुणिदाणाइ समिद्धं सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥३०॥

धनधनादि समृद्धि सुख, ज्यों सब जीवन होइ।
त्यों मुनिदानहिते सकल, सुख तिहि दुख विन लोइ ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार धन धान्य आदि भोगोपभोग सामग्री और विभूतिसे सुखकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार समस्त प्रकार के परिग्रह और आरंभरहित वीतराग मुनीश्वरोंके दानके फलसे समस्त प्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख वैभव प्राप्त होजाते हैं।

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा वहुधनं महाखेत्तं।
चत्तविणा वयगुणचारित्तं णिक्कारणं जाणे ॥३१॥

पात्र विना दत्त सुपुत्त विन, वहुधन अर यह खेत।
चित्त बिना वृतगुण चरित्त, जानि अकारन एत ॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार सुपुत्र के विना महान विभूति महल और अपार धन व्यर्थ है। भावों के विना व्रत तप और चारित्र का पालन करना व्यर्थ है, इसी प्रकार सुपात्र के विना दान व्यर्थ है।

सुपात्र में स्वल्प भी दान वट के सूक्ष्म वीज के समान फल को प्रदान करता है, नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती इन्द्र धरणेंद्र की अतुल विभूति को प्रदान करता है और क्रम से मोक्ष सुख को भी देता है। परन्तु अपात्र में प्रदान किया हुआ संसार का वढ़ाने वाला और घोर दुःखका देने वाला है।

जिणुद्धारपत्तिट्ठाजिणपूजा तित्थबंदणं विसयं।
धणं जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुक्खं॥

जिन उद्धार प्रतिष्ठा पूजा जिनकी करैं।
वंदन तीर्थ विशेष जास धनकौं हरैं॥
भुंजै भोग अज्ञान काज धर्म नहिं धरैं।
कहिड जिनेश सो पुरुष नरक के दुख भरैं॥३२॥

* श्री भगवान कुन्द-कुन्द स्वामी ने यहां पर निर्माल्य सेवन का पाप नहीं बतलाया है किन्तु एक मनुष्य ने श्रीजिनेन्द्रभगवान की नित्य पूजा यावच्चन्द्र दिवाकर सतत कायम रहने के लिये पांच हजार रुपये धर्मार्थ दान किये और उसकी व्याज में भगवान की नित्य पूजा होती रहे ऐसी भावना की और इसीलिये दान किया, परन्तु कालान्तरमें उस रुपया को हजम कर जाना और भविष्य में होने वाली पूजा का विध्वंस करना सो इस प्रकार पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा आनन्द धार्मिक आयतनों का द्रव्य खा जाना और भविष्य में होने वाले धार्मिक कार्य को विध्वंस कर देना सो यह सब नरक गति का कारण है। पूजा में अष्ट द्रव्य चढ़ाने के बाद जो निर्माल्य द्रव्य होता है उसका फल तो पूजक भव्य पुरुष ने भगवान की पूजा करते ही प्राप्त कर लिया। उसी प्रकार प्रतिष्ठा आदि के लिये रखे हुए द्रव्य का फल भविष्य में प्रतिष्ठा करते समय प्राप्त होगा वह प्रतिष्ठा के लिये रखे हुए द्रव्य को खा जाने से नष्ट हो गया और प्रतिष्ठा से होने वाली प्रभावना भी नष्ट हो गई इस प्रकार धार्मिक कार्य को कायम रखने के लिये प्रदान किये हुए दान को भक्षण करने से नरक की गति होती है। निर्माल्य भक्षण करने से केवल अन्तरायकर्म का ही बंध होता है ऐसा श्रीराजवार्तिक में कहा है इससे स्पष्ट है कि निर्माल्य भक्षण से पूजा प्रतिष्ठा आदि का संरक्षित धन भक्षण करना महापाप है।

अर्थ—श्री जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार, जिनविम्ब प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवान की पूजा, जिनयात्रा, तीर्थयात्रा, रथोत्सव और जिन शासन के आयतनों की रक्षा के लिये प्रदान किये हुए दान को जो मनुष्य लोभ मोहवश ग्रहण करे, उससे भविष्य में होने वाले धर्म कार्य का विध्वंस कर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महा पापी है ऐसा श्री जिनराज ने कहा है।

पुत्तकलित्तविदूरो दारिद्दो पंगु मूकवहिरंधो।
चंडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो ॥३३॥

पुत्र कलित्र विना दलिद, पंगुमूकवहिरंध।
चांडालादि कुजादि हुइ, महदतधनहर मुंध ॥३३॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा आदि के लिये संरक्षित द्रव्य का अपहरण करता है वह पुत्र स्त्री आदि कुटुम्ब परिवार से रहित होता है। दरिद्र पंगु मूक बहिरा अंधा होता है और चांडालादिक कुजाति में उत्पन्न होता है।

इत्थीयफलं ण लब्भय जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं
वाहीणमायसेसो पूजादाणाइदव्वहरो ॥३४॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठादि के निमित्त प्रदान किये गए द्रव्य का अपहरण करता है वह इच्छित फल को कदापि नहीं होता। उसके पुण्य का उदय कभी नहीं होता है।

कदाचित इष्ट वस्तु का संयोग प्राप्त हो जाय तो भी वह उसका फल भोग नहीं सकता।

गयहत्थपायणासिय कणउरंगलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमूलो पूजादाणाइदव्वहरो ॥२५॥

गत कर पद नासा कणव, जो अंगुलि दिठि हीन।
तीव्रदुक्खको मूल हुइ, पूजदान धनलीन ॥२५॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठादि के निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्य का अपहरण करता है वह हाथ पद (पैर) नासिका कर्ण अंगुलि आदि रहित हीनांग होता है। आंखों से अन्धा होता है और तीव्रतर दुःख को प्राप्त होता है।

खयकुट्ठमूलसूला लूयभयंदरजलोदरखिसिरो।
सीदुण्हवाहिराइ पूजादाणांतरायकम्मफलं ॥२६॥

कुष्टसिरह क्षय मूल लूत जलोइभगंद रुज।
वात पित्तकफमूल पूजादान अन्तरायफलं ॥२६॥

अर्थ—जो मनुष्य लोभ मोह के वश होकर श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा के निमित्त दान किये हुऐ द्रव्य का अपहरण कर पूजादि धार्मिक कार्यों में अन्तराय करता है, विघ्न करता है, पुण्योत्पादक क कार्य विध्वंस करता है वह क्षय कोढ़ शूल लूता जलोदर भगंदर गलकुष्टि वात पित्त कफ और सन्निपात आदि रोगों की तीव्र वेदना को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिन शासन और धर्मायतनों को उद्योत करने वाले पूजा प्रतिष्ठा रथयात्रा तीर्थयात्रादि धार्मिक कार्यों के लिये प्रदान किये हुऐ द्रव्य को वह धार्मिक कार्य होनेके प्रथम ही अपहरण कर धार्मिक कार्य में अन्तराय करना अथवा धार्मिक कार्यों की व्यवस्था में विघ्न करना, धार्मिक कार्यों में दान देने वाले भाइयों को रोकना, सुचारु रूप से कार्य करने वाले धार्मिक कार्यों में रोड़ा अटकाना, मन्दिर के छत्र चमर आदि विभूति का लोप करना, मन्दिरकी द्रव्य से आजीविका, कर मन्दिरके कार्य को वंद करना आदि अनेक प्रकार पूजा और दान के कार्यों में अन्तराय करने से दुःख प्राप्त होता है।

णरइतिरियाइदुरइदारिद्द वियलंगहाणिदुक्खाणि ।
देवगुरुसत्थवन्दणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं ॥३७॥

अर्थ—जो मनुष्य देव-गुरु शास्त्र के उद्धार, वंदना और पूजा प्रतिष्ठा आदि के निमित्त होनेवाले दानमें अथवा प्रदान किये हुऐ दान में, श्रुत की वृद्धि पाठशाला विद्यालय और स्वाध्याय आदि के लिये दान में विघ्न करता है उसको नरक तिर्यंच आदि दुर्गति के दुःख और मनुष्यगति में दरिद्रता विकलांग तथा विविध प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं।

सम्मविसोही तवगुणचारित्त सण्णाणदानपरिधीणं ।
दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥३८॥

समकितसुध तपचरित्त, सतज्ञानदान परधान ।
भरतकाल पंचममनुप, निहचै उपज महान् ॥३८॥

अर्थ—इस दुस्सह दुःखम (कलिकाल) पंचमकाल में मनुष्य के नियमपूर्वक शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित तप व्रत अठाईस मूलगुण चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दान आदि सर्व होता है।

भावार्थ—भरतक्षेत्र पंचमकाल में अठाईस मूलगुणधारक तप व्रत और चारित्र के पालन करनेवाले मुनीश्वर होते हैं और शुद्धसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले मुनीश्वर व गृहस्थ होते हैं।

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्
जे जइणा भणिया ते णरया हुंति कुमाणुसा तिरिय

नहीं दान नही पूज नही शील गुणहि चरित्र ।
भणिया ते नारकि कुमनु तिरजग होत परित्र ॥३६॥

अर्थ—जिन जीवोंने मनुष्यपर्याय प्राप्त कर सुपात्रमें दान नहीं दिया, श्रीजिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं की, शीलव्रत (स्वदारसन्तोष-परस्त्रीत्याग) नहीं पालन किया, मूलगुण और उत्तरगुण पालन नहीं किये, चरित्र धारण नहीं किया और श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञा पालन नहीं की वे मनुष्य मर कर परलोकमें नारकी, तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होते हैं।

ण वि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं स सोम्मउम्मुक्को ॥४०॥

काज अकाज न जानही श्रेय अश्रेय पुन्य पाप ।
तत्त्व अतत्त्व अधर्म धर्म सो समकित विन आप ॥४०॥

अर्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानके साथ अपना कार्य अकार्य, अपना हित अहित, तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म और पुण्य पापको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टी है।

ण वि जाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमणिच्चं हेयमुवदेयं
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्मुक्को ॥४१॥

जोग अजोग रु नित अनित, सत्य असत्य न जानि ।
हेय अहेय न भवि अभवि सो समकित विन मानि ॥४१॥

अर्थ—जो मनुष्य योग्य अयोग्य, नित्य अनित्य, हेय उपादेय, सत्य असत्य संसार और मोक्षको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनरहित मिथ्यादृष्टि है।

लोइय जणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो ।
लोइय संगं तह्मा जोइ वि तिविहेण मुंचाहो ॥४२

लौकिक जन संघात मई, मुखुर कुटिल दुरभाव ।
होइ संग ताते तजौ, मन बच तनकर जाव ॥४२॥

अर्थ—लौकिक मनुष्यों की संगतिसे मनुष्य अधिक बोलने ले (वाचाल) वकड़ कुटिल परिणाम और दुष्ट भावों से

अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं इसलिये लौकिक मनुष्यों की संगति को मन वचन काय से छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ—धर्माचरण विहीन—नास्तिक मनुष्यों की संगति और उनकी कुशिक्षासे मनुष्य वाचाल हो जाते हैं। इससे वे पापकर्म–हिंसा झूठ चोरी और व्यभिचार आदि अनीति के करने में जरा भी नहीं हिचकते हैं बल्कि उस कुशिक्षा के प्रभाव से पाप कर्म करते हुए भी अपनी सफाई खूब बड़ाई के साथ पुकार पुकार कर गाते हैं। अपने को जैन बतलाते हुए भी लौकिक जनकी संगति से जैनधर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं। दुष्ट भावों को रख कर अधर्म की वृद्धि कर मिथ्यात्व को बढ़ाते हैं इसलिये लौकिक जनकी संगति का परित्याग करना चाहिये।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सादो दुरालावो।
दुरमदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउमुक्को ॥४३॥

उग्र तीव्र दुर्भाव दुठ दुश्रुत दुर आलाप।
दुरमत रत अविरुद्ध जिय सो विन समकित आप ॥४३॥

अर्थ—उग्र प्रकृतिवाले, तीव्र क्रोधादि प्रकृतिवाले, दुष्ट स्वभाव वाले, दुर्भाव वाले, मिथ्या शास्त्रों के श्रवण करने वाले, दुष्ट वचन के कहने वाले, मिथ्याभिमान को धारण करने वाले आत्मधर्म से विपरीत चलने वाले और अतिशय क्रूर प्रकृति वाले मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं।

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठ पिसुणो सग्गव्विअसुइउ ।
गायणजायणभंडनदुस्सणसीलो दु सम्मउमुक्को ॥४४

क्षुद्र रुद्र रोषी पिशुन गरवा निंद्य अनिष्ट ।
गायण जाचक दोषकथ भंडन समकित नष्ट ॥४४॥

अर्थ—क्षुद्र प्रकृति वाले, रुद्र परिणामी, क्रोधी, चुगुल-खोर, कामी, गर्विष्ठ, असहनशील, द्वेषी, गायक, याचक, लड़ाई झगड़े करने वाले, दूसरों के दोषों को प्रकट करने वाले, निंद्य पापाचारी और मोही मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं ।

वाणरगद्दहसाणगयावग्घवराहकराह ।
पक्खिवजलूयसहाव णर जिणवरधम्मविणासु ॥४५॥

वानर गर्दभ अरु महिष गज वाघ वराह कराह ।
पक्षि जलूक स्वभावनर जिनवर धर्म न ताह ॥ ४४ ॥

अर्थ—बंदर के स्वभाववाले, गदहाके स्वभाववाले, भैंसा हाथी वाघ शूकर कच्छप पक्षी जलूकादि स्वभाववाले मनुष्यों के श्रीजिनेन्द्रदेवका धर्म धारण नहीं होता है ।

कुतवकुलिंगकुणाणी कुवयकुसीलकुदंसणकुसत्थो ।
कुणिमित्ते संथुय थुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं ॥

अर्थ—मिथ्यातपश्चरण करनेवाले कुत्सित भेषको धारण .नेव ले, मिथ्याज्ञान की आराधना करनेवाले, कुत्सित व्रता-

चरणोंको पालन करनेवाले, कुशील सेवन करने वाले, मिथ्या दर्शनके भाववाले, मिथ्याशास्त्रोंका पठन पाठन और स्वाध्याय करनेवाले, कुत्सित आचरण करनेवाले, मिथ्याधर्म, मिथ्यादेव और कुगुरू की प्रशंसा करनेवाले मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं। उनके नियमपूर्वकसम्यग्दर्शन नहीं होता है।

सम्मत्तिणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं ॥४७॥

समकित विन सतज्ञान सतचारित नियत न जोय।
रत्नत्रय सम्यक्गुण जिनकहि उत्तम होय ॥४७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नियमपूर्वक नहीं होते हैं। जिसके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय है उसके ही सम्यक्त्व गुण प्रशंसनीय हैं ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा।
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छसेवहो कट्ठं ॥४८॥

तनकुष्ठी कुलभंग ज्यों करै जथा ज्यों जानि।
त्यों दानादिक सुगुण बहु करै मिथ्याती हानि ॥४८॥

अर्थ—जिस प्रकार कोढ़ी रोग वाला मनुष्य कुष्ट के कारण अपने कुलको नष्ट करता है ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव दान पूजा चारित्र और धर्मायतनों का विध्वंस करता है इस-

लिये मिथ्यात्व का सेवन करना विशेष दुःख का प्रदान करने वाला है।

मिथ्यात्व से समस्त आत्मीयगुण नष्ट हो जाते हैं और सच्चे देव शास्त्र गुरु तथा धर्माचरणों से विपरीत भाव हो जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्व का सेवन करना संसार के दुखों का ही कारण है।

देवगुरुधम्मगुणचरित्तं तवायारमोक्खगइभेयं।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४६॥

देव धरम गुरु गुण चरित शुभ तप शिव गति भेव।
जिनवर वचन सुदिष्टि बिन अंधक सम्यक वेव ॥४६॥

अर्थ—सम्यक् दर्शन के बिना देव गुरु धर्म क्षमादिक गुण, चारित्र तप मोक्षमार्ग तथा श्रीजिनेन्द्र भगवान के वचन (जिनवाणी) को नहीं मानते हैं।

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनके देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान भी नहीं है। तथा व्रत तप चारित्र और मोक्षमार्ग भी नहीं होता है।

एक्कु खणं ण विचिंतेइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥५०॥

खिन न चिंतय शिव निमित्त निज आतम सद्भाव।
अह निशा चिन्तय पाप बहु मन चिन्तइ आलाव ॥५०॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव एक क्षणमात्र भी मोक्ष की सिद्धि के लिये अपने आत्म स्वरूप का चिंतवन नहीं करता है, परन्तु रात्रि दिवस पाप के कार्यों का बार-बार विचार करता है तथा परवस्तु की निरन्तर अभिलाषा करता है।

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जहा भुल्लो।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥५१॥

मिथ्या मति मदमोहतैं भुल्ल बकत जिम मत्त।
तैसे जानत नांहिं निज अरु समभावहि तत्त ॥५१॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्याबुद्धि के अभिमान से मदोन्मत्त हो कर मदिरा पान करने वाले भुल्लड़ मनुष्य के समान यद्वा तद्वा मिथ्या प्रलाप करते हैं। परन्तु वे मोह के उदय से आत्मा को नहीं जानते हैं और आत्मा के समताभाव को सर्वथा नहीं जानते हैं।

मिहरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरिं जहाविय सिज्जइ सम्मे जहाकम्मं ॥५२॥

महाअंध्यारो रवि मरुत मेघ महावन दाह।
पर्वत वज्र विनाशए ससकित कर्म अपाह ॥५२॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को तत्काल नष्ट कर देता है। वायु मेघ का नाश करती है। दावानल बन को जला देता है। वज्र पर्वतों को भेदन (चूर्ण) कर देता है उसी प्रकार एक सम्यक्त्व समस्त कर्मों को नाश कर देता है।

मिच्छंधयाररहियं थियमज्झं मिव सम्मरयणदीव कलावं
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुदिट्ठं ॥५३॥

पखि अंध्यारे गेह मधि दीप कला परगास ।
समकित नग प्रज्वले दिपै तीन लोक जिन भास ॥५३॥

अर्थ—जो धर्मात्मा अपने हृदय-मन्दिर में सम्यक्त्वरत्न रूपी दीपक प्रज्वलित करता है उसको त्रिलोक के समस्त पदार्थ स्वयमेव प्रतिभासित होते हैं ।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं य समं ।
लद्धो भुंजई सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं ॥५४॥

कामदुधा तरुकल्प रससार रसायण चित्त ।
मणि लाभै सुख भुंजए इच्छित जिमि सम दित ॥५४॥

अर्थ—जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामनि रत्न और रसायण को प्राप्त कर मनवांच्छित उत्तम सुख को प्राप्त होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से भव्य जीवों को सर्व प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख और समस्त प्रकार के भोग्गोपभोग स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं ।

कतक फल भरियणिम्मल ववगय कालिया सुवण्णञ्च ।
मलरहिय सम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ॥५५॥

अर्थ—जिस प्रकार कतक (निर्मली) के संयोग से जल निर्मल हो जाता है। अग्नि तथा रसायण के बल से सुवर्ण

किट्टिमा रहित निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से यह जीव समस्त प्रकार के कर्ममल रहित शुद्ध स्वभाव को प्राप्त हो जाता है और उसको सहज लीला मात्र में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पइसुदु णो देइ अहिणवं कम्मं।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ॥५६॥

पूरब थित खेवै करम नव नहिं देत प्रवेश।
देय महातम लोक दुय उपसम भाव नरेश ॥५६॥

अर्थ—भव्य जीवों को उपशम भाव पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। (पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति का क्षय करता है) और नवीन कर्म बंध होने नहीं देता है (नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता है) इसलिये उपशमभाव दोनों लोक में अपूर्व माहात्म्य प्रगट करता है।

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष समय को वैराग्य और ज्ञान से व्यतीत करते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टी पुरुष दुर्भाव आलस और कलह से अपना समय व्यतीत करते हैं।

अज्जविसप्पिणि भरहे पउरा रुद्दट्टझाणया दिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्हणीलकाउदा ॥५८॥

आज भरत अव सरपिणी हैं प्रचुरार्त अतिरुद्र ।
नष्ट दुष्ट पापिष्ट कठ त्रयलेश्या जुत क्षुद्र ॥५८॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकाल में ... रुद्रपरिणामी कृष्णादि अशुभ लेश्या के धारक क्रूर ... वाले नष्ट दुष्ट पापिष्ठ और कठोर भावों को धारण करनेवा... अधिक मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

अज्जविसप्पिणि भरहे दुस्ससया मिच्छपुव्वया सुलया
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंति ॥५६

अवसर्पिणी दुःखम भरत सुलभ पूर्व मिथ्यात ।
समकित पूरव जति गृही दुर्लभ धर्म विख्यात ॥५६॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकाल में मिथ्यात... मनुष्य अधिक हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टी मुनीश्वर और गृह... दुर्लभ हैं।

भावार्थ—जैन धर्म को धारण करनेवाले धर्मात्मा सम... ग्दृष्टी गृहस्थ और मुनीश्वर अत्यन्त दुर्लभ हैं। मिथ्यामत ... धारण करनेवाले मिथ्यात्वी अधिक हैं—सुलभतासे प्रा... होते हैं।

अज्जविसप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहियमिदि
जिणदिट्ठं णहु मुणइ मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ॥६०

अबहू अवसर्पिणि भरत में बिन प्रमाद धर्मध्यान ।
होत यह विधि जिन कह्यो जो कुदिष्टि नहिं मान ॥६०॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकाल में श्री मुनीश्वरों के प्रमाद रहित धर्मध्यान होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इसको नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—अप्रमाद अवस्था सातवें गुणस्थान में होती है। भरतक्षेत्र पंचमकाल में सातवें गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरों के प्रमाद रहित धर्मध्यान नियम पूर्वक होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने परमागम में कहा है। जो जैनी इस पंचमकाल में सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिधर्म (मुनीश्वरों का अस्तित्व) तथा प्रमाद रहित धर्मध्यान को नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है, जैन धर्म से बहिर्भूत है।

असुहादो णिरयादो सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणइ जं ते रुच्चै दणं कुणहो ॥६१॥

असुभभावतैं नरकगति शुभै सुरग सुख आव।
दुखसुख भावह जानि तुव रुचै सु करि अनुराव ॥६१॥

अर्थ—अशुभभाव से नरकादि दुर्गति होती है। शुभ भावों से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। दुःख और सुख की प्राप्ति अपने शुभाशुभ भावों पर निर्भर है। हे भव्य आत्मन्! जो तुझको अच्छा मालूम होता हो वह कर।

भावार्थ—अशुभ भाव करेगा तो दुःख होगा। शुभ भाव करेगा तो सुख होगा इसलिये अशुभ भावों का त्याग कर।

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणे सु पक्खवाएसु ।
मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणिवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥

विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु च्चाएसु जो वट्टए असुहभावो ॥६३॥

हिंसादिक क्रोधादि अरु मृषा ज्ञान पक्षपात ।
अभिनिवेश दुर्मद मच्छर अशुभ लेसि विख्यात ॥६२॥

विकथादिक दुर्ध्यान असुय रौद्र परिणाम ।
शल्य गारव ख्याति में अशुभ भाव मद काम ॥६३॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और माया वरणरूप परिणाम, क्रोध मान माया लोभ मोह रूप परिणाम, मिथ्याज्ञान, पक्षपात, सप्तत त्वों के परिज्ञान में संशय विपरीत और अन-ध्यवसायरूप परिणाम, मत्सरभाव , अशुभलेश्या विकथादिक प्रवृत्तिरूप परिणाम, आर्त्त रौद्र परिणाम, असूय परिणाम (दूसरे के गुणों को सहन नहीं होने के भाव निंद्य) परिणाम, मिथ्या माया निदान शल्ययुक्त परिणाम, रसगारव आदि अपनी पूजा प्रतिष्ठा कीर्ति मानवडाई के परिणाम इत्यादि अनेक प्रकार के दुर्भाव अशुभ भाव हैं ।

भावार्थ—जिन कारणों से जीवों के परिणामों में राग-द्वेष काम क्रोध मोह आदि विकार हों, अथवा राग द्वेष रूप का.ो परिणाम हों उनको अशुभ भाव कहते हैं ।

दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
वंधणमुक्खे तक्कारणरूये वारसणुवेक्खे ॥६४॥
रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ होइ सुहभावो ॥६५॥

अस्तिकाय पण द्रव्य पट् तत्त सात नवभाव ।
वंध मोच्छ कारण संरूव द्वादश भावन ध्याव ॥६४॥
रत्नत्रयहि स्वरूप अरु आरिज दयादि धर्म ।
ऐसे मारग वर्तई सो शुभ भाव सुमर्ग ॥६५॥

अर्थ—पंच अस्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बंध मोच, दयाक्रोध, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्रमय जिन भव्य जीवों के भाव हैं, वे शुभ भाव हैं ।

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह वहुणा जं ते रूचेइ तं कुणहो ॥६६॥

समकित गुणतैं शुभसुगति दुर्गति देव मिथ्यात ।
यह जानि भव्य जो रुचै करहु नियम अवदात ॥६६॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीवों को नियम से शुभगति होती है इसलिये हे भव्य ! तुमको जो अच्छा लगे वह कर, अधिक क्या कहें ।

मोह ण च्छिज्जइ अप्पा दारुण कम्मं करेइ वहुवारं ।
णहु पावइ भवतीरं किं वहु दुक्खं वहेइ मूढमई ॥६७॥

मोहक्षय जिय नहीं करे करे पाप बहुवार ।
नहिं पावै भवपार किम सहिहैं दुक्ख गंवार ॥६७॥

अर्थ—यह आत्मा मोह का क्षय तो करता नहीं है और अपने मन वचन कार्य से कठिन कार्यों (व्रततपश्चरण आदि) को वार वार करता है। क्या इससे संसार समुद्र से पार होगा ? व्यर्थ ही मूर्ख दुःखों को सहन करता है।

रियउ वाहिरलिंगं परिहरियउ वाहिरक्खसोक्खं हि ।
रियउ किरिया कम्मं मरिउ जमिउ वहिरप्पुजिय ॥६८॥

द्रव्यलिंग धरि परिहरयो वाहिज इन्द्रय सुख ।
क्रिया करम करि मरिं जनम वहिरातम सहदुःख ॥६८॥

अर्थ— द्रव्यलिंग (सम्यक्त्वरहित जिनलिंग मुनि अवस्था) को धारण कर और प्रकट रूप से इन्द्रियों के वाह्य सुख का परित्याग कर अनेक प्रकार के कठिन व्रताचरण किये परन्तु फिर भी वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव जन्म मरण के दारुण दुखों को प्राप्त होता ही रहा, एक सम्यग्दर्शन के विना जिन-लिंग भी संसार का नाश नहीं कर सकता है।

क्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठितणुदिट्ठी ।
च्छाभाव ण च्छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि ॥६९॥

मोक्ष निमित्त दुख वहें तन दण्डी दिठि परलोक ।
मिथ्याभाव न छीजइ किम पावइ शिव थोक ॥६९॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के बार-बार अनेक प्रयत्न किये और व्रततपश्चरण के द्वारा शारीरिक अनेक कष्ट भी सहन किये परन्तु मिथ्या भावोंका परित्याग नहीं किया इसलिये यह अज्ञानी आत्मा मोक्ष के सुख को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ?

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं ।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लोए ॥७०॥

नहिं दंडै क्रोधादि तन दंड खिपै किम कर्म ।
तैसें नाग कहा मुवे लोक वंवि हन भर्म ॥७०॥

अर्थ—हे वहिरात्मन् ! तू क्रोध, मान, मोह आदि दुर्भावों का त्याग (दंड) नहीं करता है और व्रत तपश्चरण आदि के द्वारा शरीर को दंड (कष्ट) देता है इससे तेरे कर्म्म नष्ट हो जायेंगे क्या ? कदापि नहीं । क्योंकि सर्प के बिल को मारने से सर्प नहीं मरता है ।

उपसम भवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होई ।
णाणी कसायबसगो असंजदो होइ सो ताव ॥७१॥

उपशम तप भावह जुगत तावत संजम ज्ञान ।
ज्ञानी भयो कषाय बश ताव असंजम थान ॥७१॥

अर्थ—उपशम भावसे व्रत तपश्चरण चारित्र आदि धारण केये जांय तो वे समस्त संयम भाव को प्राप्त हैं परन्तु, कषाय

के वश व्रत तपश्चरण धारण किये जांय तो भी वे असंयम भाव को ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवों के उपशम भाव से जब तक व्रतादिक होते हैं तब तक उनके संयम भाव होता है और अनेक शास्त्रों का ज्ञाता महाज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के अभिमान में कषायों से व्रतादिक को धारण करता है परन्तु भावों में कलुषित परिणाम होने से असंयत भाव ही रहते हैं।

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी ।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥७२॥

ज्ञानी खेपै ज्ञानबल कर्म न मान अज्ञान ।
पीजै भेषज ज्ञान यह व्याधि नाश इति मान ॥७२॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के बल से कर्मों को नष्ट कर देता है ऐसा जो कहता है सो अज्ञानी है क्योंकि बिना चारित्र के अकेले ज्ञान से कभी कर्म नष्ट नहीं हो सकते। मैं सब औषधियों को जानताहूं मैं एक अच्छा वैद्य हूं, ऐसा कहने मात्र से क्या व्याधियां नष्ट हो जाती हैं? कभी नहीं।

भावार्थ—जिस प्रकार रोग और औषधि के जानने मात्र से व्याधि दूर नहीं होती उसी प्रकार अकेले ज्ञान से कर्म नष्ट नहीं होते किन्तु जैसे औषधि को घोट छान कर पीने से व्याधि नष्ट होती है उसी प्रकार चारित्र से कर्म नष्ट होते हैं।

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥७३॥

मिथ्यामल शोधन प्रथम सम्यक्त्व भेषज सेव ।
पीछे सेवइ करम रुज नाशन चारित्र देव ॥७३॥

अर्थ—भव्य जीवों को सबसे प्रथम मिथ्यात्वरूपी मल का शोधन सम्यक्त्वरूपी रसायन से करना चाहिये। पुनः चारित्र रूपी औषध का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करने से कर्म रूपी रोग तत्काल ही नियमपूर्वक नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्र निष्फल हैं कर्मों का नाश सम्यक्चारित्र से ही होता है। यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र है तो कर्मों के नाश होने में कुछ भी विलम्ब नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी जब तक सम्यक् चारित्र पूर्णरूप से प्राप्त नहीं है तब तक कर्मों का नाश कदापि नहीं होगा और मिथ्यात्व के साथ चारित्र धारण किया जाय तो केवल संसार का वर्द्धक है कर्मों का नाश करने वाला नहीं है। इसलिये सबसे प्रथम मिथ्यात्व का नाश कर चारित्र धारण करना चाहिये।

अण्णाणी विसयविरत्तादो होइसयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥७४॥

अज्ञानी विषयविरत अरु कषाय विन होय ।
तातैं ज्ञानी विषय जुत जिह कहि लख गुन सोय ॥७४॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) जीव विषय और कषायों से विरक्त हो कर फल प्राप्त करता है, सम्यग्दृष्टि जीव विषय कषायों को करते हुए भी उससे लाख गुणा फल अनायास ही प्राप्त कर लेता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

भावार्थ—विषय कषाय को सेवन करते हुए भी सम्यग्दृष्टी पुरुषों को मिथ्यादृष्टी जिनलिंग धारी की अपेक्षा से असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। प्रथम तो मिथ्यादृष्टी को कर्मों की निर्जरा ही होती नहीं है कदाचित् वह मिथ्यादृष्टी मोहनीय कर्म के मंदोदय से श्री जिनेन्द्र भगवान कथित चारित्र को धारण कर लेवे और समस्त प्रकार के विषयों का परित्याग कर देवे तो भी कर्मों की निर्जरा मिथ्यादृष्टी को नहीं होती। हां, पुण्य की प्राप्ति अवश्य ही होती है, इसलिये मिथ्यादृष्टी का विषय कषायों का परित्याग कार्यकारी नहीं है और सम्यग्दृष्टी पुरुषों को विषय कषाय का सेवन संसार के बंधका कारण सर्वथा नहीं है।

विणओ भक्ति विहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा एदं दो वारिया भणिया ॥७५॥

विनय भक्ति विन रुदन त्रिय विना नेह ज्यों कोय।
त्यों गृहत्याग विराग विन दुठ चरित यह होय ॥७५॥

अर्थ—भक्तिके बिना विनय, स्नेह के बिना स्त्रियों का ,, वैराग्य भाव के बिना त्याग, यह विडंबना है।

भावार्थ—भक्ति के विना विनय करना छल वा विडंवना है, प्रेम के विना स्त्रियों का रोना विडंवना है, उसी प्रकार वैराग्य उत्पन्न हुए विना घर का त्याग कर देना केवल विडंवना है।

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहियपरिसोहा
वेरग्गणाणसंजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते।

सुभट शक्ति विन कामिनी विन सोहाग सोभंत।
संजम ज्ञान विराग विन ज्यौं मुनि कछु न लहंत ॥७६॥

अर्थ—शूरवीर शक्ति के विना, स्त्री सौभाग्य के विना जिस प्रकार कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार संयम ज्ञान और वैराग्य के विना मुनीश्वर भी यथेष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ—संयम ज्ञान और वैराग्य भावना से ही मुनीश्वर मोक्ष की सिद्धि कर सकते हैं।

वत्थुसमग्गो मूढो लोहिय लहिए फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥७७॥

वस्तुपूर लोभी मुगध, जो पीछे फल लेत।
त्यों अज्ञान विषया रहित लाभई जानहु एत ॥७७॥

अर्थ—जिस प्रकार मूर्ख लोभी पुरुष समस्त प्रकार की वस्तु की परिपूर्णता होने पर उसका फल भोग नहीं सकता है ठीक उसी प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टी पुरुष विषयों से रहित होने पर भी उसका फल प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ—समस्त सामग्री और भोगोपभोग साधनों का समागम प्राप्त होने पर लोभी मनुष्य उनका भोग नहीं करता है किन्तु लोभ से पापों का ही संग्रह करता है। ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव व्रत तपश्चरण आदि कर उसके फल से संसार की वृद्धि ही करते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवों का तपश्चरण भी पाप का ही कारण है।

वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥७८॥

वस्तु सहित ज्ञानी सुपत दान जथा फल लेत।
ज्ञान सहित विषया रहित लाभइ लाजहु एत ॥७८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पुरुष धन सम्पत्ति और वैभव को सुपात्र में दान कर चक्रवर्ती तीर्थंकर, इन्द्र, नागेन्द्र के पद को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी विषय कषायों से विरक्त होकर और चारित्र को धारण कर मोक्ष को उसी भव से प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी पुरुष सुपात्र दान से फल से इन्द्र चन्द्र आदि के उत्तम पद प्राप्त कर कितने ही भव में मोक्ष को प्राप्त करते हैं और सम्यग्ज्ञानी पुरुष चारित्रको धारण कर उसी से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पुरुष के सभी कार्य

भूमहिला कणगाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाणवेरग्गो सहमंतेण जिणुद्दिट्ठं ॥७६॥

भू सुवरण तिय लोभ अहि विषहारनु किम होई।
सम्यक ज्ञान विराग सह मंत्र जिनोक्त सोइ ॥७६॥

अर्थ—भूमि (राज्य) महल आदि की प्राप्ति, स्त्री कन्या आदि का लोभ रूप सर्प बिच्छू आदि के विषों के निवारण के लिये एक सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान तथा वैराग रूपी अमोघ मन्त्र ही फल प्रद है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पुव्वं जो पंचेंदियतणुमणुवचि हत्थपायमुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ ॥८०॥

प्रथम पंचेन्द्रिय मन वचन, तन कषाय हस्तपद मुंड।
पीछे सिर मुंडन करहु तिय शिवं होइ अखंड ॥८०॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपनी पांचों इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये। फिर क्रम से अपने मन वचन काय और हाथ पाद को वश करना चाहिये। पीछे शिर का मुंडन करना चाहिये। इससे भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग की प्रप्ति शीघ्र ही होती है।

भावार्थ—प्रथम अपने भावों में सम्यक्त्वपूर्वक जिनदीक्षा धारण कर पुनः क्रम से वैराग्य और ज्ञान भावना से मन वचन काय और पांचों इन्द्रिय को वश करना चाहिये। भाव चारित्र और द्रव्य चारित्र के द्वारा संवर को प्रकट कर नवीन कर्मों के

आश्रवको रोकना चाहिये। यदि भावदीक्षा है तो द्रव्यदीक्षा उपयोगी है यदि भावदीक्षा नहीं है केवल द्रव्यदीक्षा ही को लाभकारी और उत्तम समझना भ्रम है। परन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि केवल भावदीक्षा से मोक्ष की सिद्धि हो जायगी फिर द्रव्य दीक्षा धारण करने की क्या आवश्यकता है। द्रव्य दीक्षा (जिनलिंग) धारण किये विना भावदीक्षा सर्वथा कार्यकारी नहीं है। इसीलिये मोक्षमार्ग की सिद्धि द्रव्य दीक्षा पर ही अवलंबित है। द्रव्यदीक्षा धारण करने पर भावलिंग हो सकता है परन्तु केवल भावलिंग द्रव्यलिंग के विना कुछ भी उपयोगी नहीं है।

पतिभत्तिविहीण सदी भिच्चोय जिणसमयभत्तिहीण जई।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गई मग्गाणुलग्गणो णियमा॥

वाम भक्ति पतिभक्ति विन जिन श्रुति भक्ति न जैन।
गुरु भक्ति विन सिक्ष लग जिय दुरगति गत ऐन॥८१॥

अर्थ—पति की भक्ति से रहित स्त्री स्वामी की भक्ति से रहित सेवक, श्रुत (शास्त्र) की भक्ति से रहित यतिराज और गुरु की भक्ति से रहित शिष्य निंद्य व दुर्गति का पात्र है।

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं।
ऊसरछेत्ते वविय सुवीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं॥८२॥

गुरुन भक्ति विन शिष करन सर्व संग विरतानि।
ऊसर धरि वय बीज सम नेष्ठार्थ्यसुजानि॥८२॥

अर्थ—यदि सर्व प्रकारके बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित शिष्य यतीश्वरोंमें गुरु (श्री आचार्य परमेष्ठी) की भक्ति नहीं है तो उनकी सर्व क्रियाएं ऊसर भूमिमें पतित अच्छे बीजके समान व्यर्थ हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम बीज भी यदि ऊपर भूमिमें बो दिया जाय तो वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और बोने वाला का श्रम भी व्यर्थ जाता है। इसी प्रकार यदि गृह परिवार आदि सर्व परिग्रह छोड़कर नग्न तपको धारण कर अनेक प्रकारका कठिन तपश्चरण किया परंतु गुरुभक्ति (पंच परमेष्ठी और जिनागम जिनधर्म जिनचैत्य जिन चैत्यालय इस प्रकार नव देवकी भक्ति नहीं है तो सर्व श्रम करना व्यर्थ है।

रज्जं पहाणहीणं पतिहीणं देसगामरट्ठबलं ।
गुरुभत्तिहीण सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥८३॥

बिन प्रधान राजा नगर देश राष्ट्र बल हीन।
गुरु भक्ति बिन सिष्य तस चेष्टा हुई सब छीन ॥८३॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रधान रहित राज्य और स्वामी रहित देश ग्राम संपत्ति सैन्य आदिकी विभुता निरुपयोगी है, व्यर्थ है उसी प्रकार गुरुकी भक्तिसे रहित शिष्यगणोंके सब आचरण व्यर्थ हैं।

सम्माणविणयरुई भत्तिविणा दाण दयाविणा धम्मं
गुरुभत्तिविणा तवचरियं णिप्फलं जाण ॥ ८४ ॥

विनय भक्ति सनमान रुचि विन दत दया विन धर्म ।
तप गुन गुरुकी भक्ति विन निरफल चारित कर्म॥८४॥

अर्थ—जिस प्रकार सन्मान के विना रुचि वा प्रेम नहीं होता, भक्ति के विना दान नहीं दिया जाता और दयाके विना धर्म नहीं होता उसी प्रकार गुरुकी भक्तिके विना चारित्र का पालन करना व्यर्थ है।

हाणादाण वियारविहीणादो वाहिरक्खसुक्खं हि ।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खु दिट्ठं जिणुदिट्ठं ॥८५॥

हानादान विचार विन बाहिज इन्द्रिय सुख ।
कहा तजै अरु भजै कहा जो नही शिव सनसुख ॥८५॥

अर्थ—कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है और कौनसी वस्तु त्याज्य है इस प्रकार आत्महित के लिये सम्यक् विचार कर एवं संसार शरीर भोगोपभोग पदार्थों से विरक्त होकर जो जिनलिंगको धारण कर तपश्चरण [ध्यान] करता है वह मोक्ष के सुख का अधिकारी है। सत् असत् योग्य अयोग्य हित अहित ग्राह्य अग्राह्य वस्तुके विचार रहित केवल बाह्य सुखका परित्याग करने से मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं होती है।

भावार्थ—जिनको आत्माका परिज्ञान है स्वानुभव है और जिन्होंने भेद विज्ञान द्वारा आत्मीय और अनात्मीय वस्तुका विचार कर आत्मीय क्षमा मार्दव आदि गुणोंको धारण कर पर पदार्थ अनात्मीय कर्म चेतना और कर्म फल चेतनाका परित्याग कर दिया है तथा संसार के स्वरूप को हेय व दुखकारी समझकर

वैराग्य भाव से जिनलिंग को धारण कर कठिन व्रत तपश्च-रण के द्वारा कर्ममल को दूर कर दिया है वे ही मोक्ष सुखके अधिकारी हैं। किंतु जिनको आत्मज्ञान नहीं है न हेयाहेयका विचार है केवल बाह्य सुखका त्यागकर साधु बन गये हैं वे कठिन तपश्चरण करने पर भी मोक्ष सुखके कदापि अधिकारी नहीं हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ साथ जो जिन लिंग को धारण कर तपश्चरण करते हैं वे ही शिवसुखको प्राप्त होते हैं।

कायक्लेसुववासं दुद्धरतव सरणकारणं जाण।
णियसुद्धसरूवं परिपुरणं चेदि कम्मणिम्मूलं॥८६॥

दुद्धर तप उपवास सब कायकलेश है जान।
जो रुचि निजशुद्ध आतमा सर्वकर्म क्षय मान॥८६॥

अर्थ—जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप में अपने आत्म-भावों की परिणति है तो दुद्धर तपश्चरण और विविध प्रकार के उपवास आदिके द्वारा कायक्लेश करना कर्मोंके नाश का कारण है।

भावार्थ—जिनको जिनलिंग नहीं है उनके कर्मों का नाश कदापि नहीं होता है। वे तो अनंत संसारी ही हैं। जिनने जिनलिंग धारण कर लिया है परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हैं वे भी संसारी ही हैं, किंतु जिन भव्य पुरुषोंने सम्यग्दर्शनके साथ साथ जिन लिंग धारण कर तपश्चरण व्रत व चारित्रका पालन

कर आत्माका ध्यान किया है उनके ही कर्मों का नाश होता है।

कम्मु ण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणेइ सम्मउमुको।
अत्थु ण तत्थुण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई ॥८७॥

करम न नशै न ब्रह्म पर जो विनि सम्यक मुक्त।
लिंग धरनु वस्तरतिजनु सो जिय खेद अजुक्त ॥८६॥

अर्थ—जो जीव परब्रह्म परमात्मा को नहीं जानता है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह जीव न तो गृहस्थ अवस्था में है न साधु अवस्था में है, वह केवल लिंग को धारण करने से ही क्या करते है। कर्मों का नाश तो सम्यक्त्व पूर्वक होता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनको विना धारण किये व्रत तप आचरण और साधु अवस्था व्यर्थ है, संसार को बढ़ाने वाली ही है। संसार में अनेक मनुष्य साधु का भेष धारण कर अपने को महंत मानकर अनेक प्रकार के प्रपंच रचकर संसार के जीवों को ठगते हैं और विषय कषायों से अपनी आत्मा को ठगते हैं। वे कर्मों का नाश नहीं कर सकते हैं। वे ब्रह्म (आत्मा) को नहीं जान सकते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन को धारण कर आत्मा के स्वरूप को सब से प्रथम जानना चाहिये पुनः दीक्षा ग्रहण करना चाहिये।

अप्पाणं पिणपिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ ण भावेई
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई ॥८८॥

नहिं आतम, पेखइमुणहि नहि सरदह् भावेइ।
बहुत दुःख भर मूल धरि लिंग कहा कारेइ ॥८८॥

अर्थ—जो अपनी आत्मा को नहीं देखता है, नहीं जानता है, आत्मा का श्रद्धान नहीं करता है, न आत्मा के स्वरूप में अपने भावों को लगाता है और न यह आत्मा अपनी आत्म-परिणति में तल्लीन होता है तो फिर बहुत दुःख की कारण भूत साधु अवस्था को धारण कर क्या लाभ लेता है ?

भावार्थ—कर्मों का नाश, दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति, आत्मस्वरूप में परणति होने से होती है। जब तक आत्मा का श्रद्धान नहीं है, स्वानुभव ही नहीं है और जब तक आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं है तब तक कर्मों का नाश कदापि नहीं होगा। जिनलिंग को धारण कर लेने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥ ८९ ॥

जाव न जाणहिं आतमा निज दुख दाता भाव।
तातैं ब्रम्ह अनन्तसुखमय ध्यावै मुनिराव ॥८९॥

अर्थ—जब तक अपनी आत्मा का सत्यस्वरूप नहीं जाना गया है तब तक इस आत्मा को कर्मजन्य दुख का भार ही और। जब यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव को जान लेता है, तो अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त हो जाता है उसी समय अनंत सुखको स्वयमेव प्राप्त हो जाता

है इसीलिये मुनिगण शुद्धस्वरूप अपने आत्मस्वभावका ध्यान करते हैं, अपने शुद्धस्वरूप में तन्मय हो जाते हैं और मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जबतक अपनी आत्माके शुद्धस्वरूप की भावना नहीं है, स्वस्वरूपकी प्राप्ति नहीं है और जबतक अपने भावों की स्थिरता अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप में दृढता से नहीं है तबतक जिनलिंग धारण कर कठिन तपश्चरण करना उत्तम सुखका कारण नहीं है। इसलिये स्वात्मस्वरूपको जान कर तपश्चरण करना स्वेष्टसिद्धि के लिये लाभदायक है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि अपने आत्मस्वरूप को जाने विना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। जिनलिंगको धारण कर अभव्यजीव भी नवम-ग्रैवेयिक पर्यन्त उत्तम अहमिन्द्रों के सुख प्राप्त कर सकते हैं। जिनलिंग धारण करने का माहात्म्य ही अद्भुत और लोकोत्तर है। जो पुण्य किसी भी कठिन से कठिन कार्यसंपादन करने पर प्राप्त नहीं हो सके वह महान पुण्य एक जिनलिंगको धारण कर प्राप्त होता है। एक जिनलिंग के सिवाय यदि अन्य श्वेतांबर या त्रिदंडि संन्यासी आदि मिथ्याभेष धारण किये जांय तो अनंत संसार के ही कारण हैं। अन्य भेषों को धारण कर कठिन तपश्चरण (पंचाग्नि आदि) दुर्गतिके दाता और दारुण दुखों के ही कारण हैं।

तपश्चरण भी दयामय फलप्रद है। परंतु दयाका सत्यस्वरूप एक जिनागमसे ही जाना जाता है। जिसने जिनागम को

जान कर जिनलिंग धारण किया है तो उसका तपश्चरण सुख दायक ही है। चाहे उसके भावोंमें सम्यक्त्वकी जागृति न हो तो भी दयामय तपश्चरण सुखप्रद है।

णियतच्चु बलद्धि विणा सम्मत्तुबलद्धि णत्थि णियमेण
सम्मत्तुबलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं ॥६०॥

निज आतम उपलब्धि विन, समकित लहै न कोय।
समकितकी प्रापति विना निश्चय मोक्ष न होय ॥६०॥

अर्थ-अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं है और सम्यक्त्वके विना मोक्षप्राप्ति सर्वथा नहीं है। यह श्रीजिनेन्द्रदेवका सुदृढ निश्चित सिद्धान्त है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जिन लिंगको ही धारण कर मोक्षके अधिकारी हैं। निर्वाणप्राप्तिकी योग्यता सम्यग्दृष्टि जीवों को ही है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति आत्माके स्वरूपको जाननेसे ही होती है। जिनने आत्माके स्वरूपको जाना है उनने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है। इसलिये तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति और निर्दोष परिज्ञान आत्माके स्वरूपको जाननेवाले भव्यात्माको ही है और उनको ही सम्यग्दर्शन है।

पवयणसारब्भासं परमप्पाज्झाणकारणं जाणं।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खंहि

प्रवचनसार अभ्यास विदि परम ध्यानको हेत।
ध्यान कर्म खेपै करम खिपै मोक्ष सुख देत ॥६१॥

अर्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका अभ्यास ही पर ब्रह्म परमात्माके ध्यानका कारण है। विशुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान ही कर्मोंका नाश व मोक्षसुखकी प्राप्तकेलिये प्रधान कारण है।

भावार्थ—जीवोंको कर्मबंध राग द्वेष काम मोहादि विकार भावों से और मन वचन काय की चपलतासे होता है। संसारी जीवों के मन वचन काय द्वारा और पूर्व संबंधित कर्मों के उदय से जो जीवोंके भावोंमें राग द्वेष मोह कामादि विकाररूप *अथवा हिंसा झूठ चोरी कुशीलादि पापाचरणरूप जो परिणति* होती है उससे ही नवीन कर्मबंध होता है फिर उस कर्मबंध से पुनः जीव के भावों में राग द्वेषादि विकार भावों का परिणमन होता है इस प्रकार संततिरूप से जीव कर्मों का बंध अनादिकाल से कर रहा है।

इस कर्मबंधका नाश तब ही हो सकता है जब कि नवीन कर्मबंध न हो और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाय। कर्मबंध के कारण जीवों के राग द्वेषादिरूप भाव और मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोक देने से नवीन कर्म का बंध नहीं हो सकता है। कारण का नाश होने पर कार्य नहीं हो सकता है। राग द्वेषादिरूप भावों की परिणतिका अभाव और मन काय की प्रवृत्ति का अभाव एक अपनी आत्मा के शुद्ध ५ का एकाग्ररूप से अविचलतापूर्वक ध्यान करने से होता

हैं। इसलिये ध्यान ही कर्मों के नाश का प्रधान कारण और मोक्षसुखकी प्राप्ति का प्रधान कारण है।

सम्यक्ध्यान आत्मरूप को जानने से होता है। अथवा यह समझना चाहिये कि जिन को विशुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक निर्दोष चारित्र है उनको ही सम्यक ध्यान होता है। परिणामोंकी विशुद्धता हुए विना आत्मा के भाव अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में कदापि एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रहसकते हैं। मोहोदय से जीवों के भावों में राग द्वेष की मलिन परिणति नियमपूर्वक अवश्य ही होती है और राग द्वेष से आर्त्त रौद्र अप्रशस्त ध्यान दुर्गति के कारण होते हैं।

सालविहीणो राउ दाणदया धम्मरहिय गिह सोहा।
णाणविहीण तवो विय जीवविणा देहसोहंच ॥६२॥

साल राज बिन दान दय धर्म रहित ग्रह देखि।
ज्ञान हीन तप जीव बिन देह सोभ ज्यों पेखि ॥६२॥

अर्थ—जिस प्रकार परिकोटा (नगररक्षाका कोटा) के विना राजा की शोभा, दान दया और धर्म के विना गृहस्थी की शोभा, जीव के विना मृतक शरीर की शोभा विफल है उसी प्रकार ज्ञान के विना तपकी शोभा भी विफल है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान के साथ तपश्चरण कर्मों के नाश का कारण है। अनेक प्रकार की ऋद्धि, प्रभुता सर्वलोक की पूज्यता आदि का कारण भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक तपश्चरण ही है।

अज्ञानी लोगों का मिथ्या तप शरीर को कष्टदायक और

दुर्गतिका कारण है। तपकी शोभा सम्यग्ज्ञान से ही है। ज्ञान बिना तपश्चरण केवल क्लेशकारी ही है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष तपश्चरण के द्वारा देवों से पूज्य और त्रिलोक में सम्मानित होता है, परन्तु अज्ञानी पुरुषों का तपश्चरण केवल हास्य का ही कारण होता है।

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउ
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥ ६३ ।

ज्यौं मक्खी सिल पडि मुई परिगहपर पडित अगाध।
लोभी मूढ अज्ञान त्या काय कलेशी साध ॥६३॥

अर्थ—जिस प्रकार मक्खी श्लेष्मा (कफ) में पड़ कर तत्काल ही मर जाती है उसी प्रकार लोभी अज्ञानी मुनि परिग्रह के लोभ में पड़कर केवल काय क्लेश मात्रका ही भागी होता है, कर्मों का नाश नहीं कर सक्ता है।

भावार्थ—खाने के लोभ से मक्खिका बिना विचारे (ज्ञान के बिना) श्लेष्मा में पड़ कर मर जाती है उसी प्रकार साधु भी परिग्रह के लोभ में पड़कर अपने तपकी महिमा को नष्ट करते हैं।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि ।
झाणं तस्सण होइहु तावणकम्मं खवेइ णहु मोक्खं ॥६४॥

ज्ञानाभ्यास बिन सुपरतत्त्व न कुछ जानंत ।
ध्यान न होइ न कर्मक्षय मोक्ष न व्है तावंत ॥६४॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानके अभ्यास बिना यह जीव भेद विज्ञान को प्राप्त नहीं होता है। आत्मतत्त्व और परतत्त्व को सर्वथा ही नहीं

जानता है। स्वपर के ज्ञान विना ध्यान नहीं होता है और सम्यक् ध्यान के विना कर्मों का क्षय और मोक्ष कदापि नहीं होती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये।

मिथ्या शास्त्रों के अभ्यास से आत्मा में मिथ्या श्रद्धान पूर्वक कुतत्त्वका ही ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। जीवोंको मिथ्या शास्त्रोंका अभ्यास प्रत्यक्ष में ही गृहीत मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला और धर्मकर्म से शून्य बनाने वाला है। नास्तिकताके भाव और बुद्धिमें मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति कराने वाला है। जीवोंको जितनी बड़ी हानि मिथ्याशास्त्रोंके अभ्याससे होती है उतनी हानि कुदेव सेवन हिंसा झूंठ और पापाचरणके सेवन करनेसे नहीं होती है क्योंकि मिथ्याशास्त्रों के अभ्यासका असर बुद्धि-ज्ञान और आत्माके भावोंमें महामलिन परिणमन कराकर सम्यग्मार्गसे पतन कराकर कुमार्गगामी एवं हिताहित के विचार रहित विवेकशून्य बना देता है। इसलिये जीव अपने कर्तव्यसे शून्य ग्रहिल और व्यामोही बन जाता है। सारासारके विचार से रहित धर्मशून्य भ्रष्टाचारी हो जाता है।

भावश्रुत और द्रव्यश्रुतका परिज्ञान जिनागम के अभ्यास से ही होता है। आत्मा का सत्य स्वरूप एक जिनागम से जाना जाता है। आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षका सत्य सत्य परिज्ञान एक जिनागमसे ही होता है।

सम्यक् ध्यान वस्तुका यथार्थ स्वरूप जान लेने पर होता

है। इसलिये सम्यक् ध्यानकी प्राप्तिके लिये जिनागमका ही अभ्यास करना चाहिये, मिथ्या शास्त्रोंका नहीं।

अज्झयणमेव झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्ते पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो ॥९५॥

एक अध्ययनही ध्यान है निग्रह अक्षकषाय।
काल पंचमे प्रवचन सार अभ्यास कराय ॥९५॥

अर्थ—प्रवचनसार (जिनागम) का अभ्यास, पठन-पाठन चिंतवन-मनन और वस्तु स्वरूपका विचार ही ध्यान है। जिनागमके अभ्याससे ही इन्द्रियोंका निग्रह, मनका वशीकरण और कषायोंका उपशम होता है इसलिये पंचमकाल भरतक्षेत्रमें एक जिनागमका ही अभ्यास करना श्रेष्ठ है। कर्मोंके नाश करने का यही मूल कारण है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र भगवानका प्रणीत सत्यार्थका प्रकाश करनेवाला आगम है। जिनागमके अभ्याससे भावश्रुत और द्रव्यश्रुतकी प्राप्तिके साथ मन और इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह होता है और विषय कषाय तथा काम क्रोध मान माया राग द्वेषादि विकारभावोंसे आत्माकी परणति रुक जाती है इस प्रकार राग द्वेषकी परणतिका संरोध होनेसे आत्मा अपने स्वसमयरसमें तल्लीन हो जाता है। स्वात्मस्वभावमें स्थिर ही ध्यान है।

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण भाव सुद्धेण ।
परमप्पज्झाणचेतो तेणेव खवेइ कम्माणि ॥ ९६ ॥

धर्मध्यान अभ्यास करि भाव शुद्ध त्रिविधेन ।
चेष्टा आतमध्यानपर करम खपत है तेन ॥९६॥

अर्थ—मन वचन कायकी विशुद्धतासे अपने आत्माके परिणामोंसे होने वाले अशुभ संकल्प विकल्पोंको रोककर धर्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये । उस धर्मध्यानके फलसे ही आत्मामें परम विशुद्ध निर्विकल्पक शुक्ल ध्यान होता है जिससे यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होकर समस्त प्रकार के कर्मों का नाशकर स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—पिंडस्थ पदस्थादि भेद रूप अथवा आज्ञाविचयादिरूप धर्मध्यानका अभ्यास होनेसे आत्माके भावोंमें परम विशुद्धता प्राप्त होती है और अशुभ रागादिक भावोंके संकल्प विकल्प स्वयमेव शांत हो जाते हैं । यह धर्मध्यान शुक्लध्यान के उत्पन्न होनेका प्रधान कारण है । इसलिये धर्मध्यानका अभ्यास कर कर्मों के नाश करने का प्रयत्न करना चाहिये । जो भव्य यह समझते हैं कि इस समय शुक्लध्यान तो होता ही नहीं है कर्मोंका नाश शुक्लध्यानसे ही होता है इसलिये ध्यानका आराधन करना व्यर्थ है । परन्तु आचार्य महाराज अपने अनुभवको प्रत्यक्ष रखकर कहते हैं कि धर्म ध्यान ही शुक्लध्यानका कारण है इसलिये धर्मध्यानका अभ्यास करना श्रेष्ठ है ।

गावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्ति करणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥६७॥

पापारंभ निवृत्ति कहय प्रवृत्ति पुण्य आरम्भ।
धरम ध्यान कह्यौ ज्ञानको जिन सब जीवनथंभ ॥६७॥

अर्थ—पाप कार्यकी निवृत्ति और पुण्य कार्योंमें प्रवृत्ति का मूल कारण एक सम्यग्ज्ञान है। इसलिये मुमुक्षु जीवोंके लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानसे तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म, पुण्य पाप, हित अहित, योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्यका बोध होता है। भव्य जीव सम्यग्ज्ञानसे अपनी आत्मा का शुद्ध स्वरूप विचार कर अपने आत्मपरिणामों को छोड़कर पर पदार्थों पर राग द्वेष नहीं करते हैं और न विषय कषायों की सिद्धिके लिये इष्टानिष्ट बाह्य पर पदार्थोंमें शुभाशुभ संकल्प विकल्पही करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञानी पुरुषकी स्वाभाविक स्वयमेव ऐसी विशुद्ध परणति हो जाती है कि जिससे उसकी हिंसादिक पाप कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती है। वे पुण्योत्पादक शुभ चारित्र की निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं। इसीलिये सम्यग्ज्ञान से जीवोंके भावोंमें साम्यभावकी स्थिरता प्रकट होती है। राग द्वेषादि विकारभावरहित साम्य अवस्था ही धर्मध्यान है।

सम्यक्चारित्रके अभ्यास बिना धर्मध्यान कदापि नहीं होता है। सम्यक् चारित्र सम्यग्ज्ञानसे ही होता है इसलिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान है।

सुयणाणब्भासं जो कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
एवं जइ मूढमइ संसारसुहाणुरत्तो सो ॥ ६८ ॥

जो श्रुतज्ञान अभ्यास कर समकित नाहिं विचार।
करे ज्ञान विन मूढतप सो सुखरत संसार ॥६८॥

अर्थ—जो मुनि अच्छी तरह जिनागमका अभ्यास नहीं करता है और विना जिनागमके अभ्यासके ही तपश्चरण करता है, वह अज्ञानी है और सांसारिक सुखोंमें लीन है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—जिनागमके अभ्याससे ही भव्यजीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और वस्तु स्वरूपका यथार्थ बोध होता है। इसलिये जिनागमका अभ्यास ही भावश्रुत और द्रव्यश्रुतका प्रधान कारण है। जिन भव्य यतीश्वरोंको जिनागम के अभ्यास द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होगया है वे ही सम्यक् तपश्चरण कर कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखके अधिकारी होते हैं।

मिथ्या शास्त्रोंका पठन पाठन और मिथ्या शास्त्रों का विशाल ज्ञान भी यतीश्वरों को अज्ञान भावका प्रकट करने वाला है। ऐसे महान विशाल ज्ञानसे यतीश्वरों को* भी वस्तु स्वरूपका यथार्थबोध कदापि नहीं होता है। बल्कि मिथ्याज्ञान भावसे उनका तपश्चरण भी आत्मबोध रहित होनेसे संसार का ही कारण होता है।

* जब कि यतीश्वरोंको भी मिथ्याशास्त्रोंका अभ्यास सम्यग्दर्शनको नष्ट करने वाला और संसार का कारण है सो गृहस्थोंका मिथ्या

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणसहावजुदो ।
अणवरयं धम्मकहापसंगदो होइ मुणिराओ ॥ ९९ ॥

तत्त्व विचारक मोक्ष पथ आराधकी सुभाव ।
होइ प्रसंगी धर्म नित निरंतर मुनिराय ॥९९॥

अर्थ—मुनिराज सदा आत्मतत्त्वके विचार करनेमें लीन रहते हैं मोक्षमार्ग को आराधन करनेका जिनका स्वभाव हो जाता है और जिनका समय निरंतर धर्म कथामें ही लीन रहता है वे ही यथार्थ मुनिराज कहाते हैं। मुनिराजों का यही स्वरूप है।

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥१००॥

विकथा बिन आधा करम बिन ज्ञानी मुनि होय ।
धर्मदेशना निपुन अनुप्रेक्ष भावना होय ॥१००॥

अर्थ—विकथा हास्यवचन और निंद्यवचनको नहीं कहने वाले, आधादिकर्मोंसे उत्पन्न हुए दोषों रहित चर्या करने वाले, सतत धर्मका उपदेश करने वाले, और बारह भावनाओंके द्वारा तत्त्व स्वरूप का विचार करनेवाले ज्ञानी भव्य जिनलिंग धारक मुमुक्षु यतीश्वर होते हैं।

शास्त्रोंका अभ्यास तो केवल पापकार्योंका ही प्रधान कारण समझना चाहिये। गृहीतमिथ्यात्व का मुख्य कारण कुशास्त्रों का अभ्यास है। जो गृहस्थ केवल मिथ्याशास्त्रों का अभ्यासकर कर पंडित या ज्ञानी बनते हैं वे हिताहितके विचार रहित निरंतर पापकार्योंकी वृद्धि कराने वाले और आत्मज्ञानसे शून्य होते हैं। उनको सम्यक् चारित्र कभीकर नहीं होता है। वे मिथ्याचारित्रसे ही आत्माका हित

भावार्थ—यतीश्वरोंका स्वरूप चार लक्षणोंसे प्रकट होता । यतीश्वर विकथादि पापजन्य बातें और परिग्रह विषय ार्योंको बढ़ाने वाली किस्सा कहानियां नहीं करते हैं। घादि कर्मके दोषोंसे उत्पन्न हुए आहारको ग्रहण नहीं करते उनका समय जिन-शासन की वृद्धिके लिये निरंतर धर्म ाना (धर्मोपदेश) में ही व्यतीत होता हैं और वे सतत बारह वनाओंसे संसार-शरीर भोग आदिकसे विरक्त होकर अपने त्मतत्त्वके विचारमें लीन रहते हैं।

ेयप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिकलंकओ णियदो।
म्मल सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥१०१॥

अविकल्पी निरदुन्द नर मोहनीय न निकलंक।
निर्मल जुक्त सुभाव मुनि सो योगीश निसंक ॥१०१

अर्थ—परमोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप बतलाते हैं। जो यती-र शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित है, निर्द्वंद्व है, निष्कलंक अपने स्वरूपमें स्थिर है और निर्मल स्वात्मस्वभाव सहित वही मुनिनाथ है।

मझते हैं। कभी कभी मिथ्याशास्त्रोंका पठनपाठन कर महान ज्ञान पादन कर अनेक जैनी पंडित व ब्रह्मचारी सम्यक चारित्रके विरोधी नकर पापकार्योंमें ही चारित्र मानते हैं। इस प्रकार से यह परीत भाव संसारको ही बढानेवाला है और मिथ्यात्वका ारण है। मिथ्याशास्त्रों का ज्ञान आत्मा के भावोंमें ऐसी विलक्षण रिणति निरंतर करता है कि जिससे हिताहितका विचार ही नहीं ोता है। केवल विषयसुखकी कामना होती रहती है।

भावार्थ–मुनीश्वर संज्ञा छठे गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है और चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त उसका ही उत्तरोत्तर विशेष उत्कृष्ट स्वरूप होता है। सर्वोत्कृष्ट मुनीश्वर का स्वरूप छठे गुणस्थानमें प्रकट नहीं होता है। सर्वोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप इस गाथामें बतलाया है ।

निर्मोह, निष्कलंक, निर्द्वन्द्व आदि गुण यद्यपि छठे गुणस्थानवर्ती सामान्य मुनीश्वरके भी यत्किंचित् स्वरूपसे होते हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थानवर्ती यतीश्वरोंमें ही उक्त गुणोंकी पूर्णता होती है।

णिंदावंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्खसहभावो ।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होइ मुणिराओ ॥१०२॥

निंदा वचन बिन सहत दुख उपसर्ग परीस।
अध्ययन रु शुभध्यानरत बिन परिग्रह मुनीस ॥१०२

अर्थ—जो निंदादिक गर्ह्य वचनोंसे रहित वचन गुप्तिके प्रतिपालक हैं, परीषह और उपसर्गके भयंकर दुःखको सहन करने वाले, साम्यभावके धारक, शुभध्यान और जिनागमके अध्ययनमें तत्पर तथा चोवीस प्रकारके परिग्रहसे सर्वथा रहित नग्न दिगम्बर हैं, वे ही यतीश्वर होते हैं।

भावार्थ—उत्तम संहनन के धारक और मूलगुण तथा उत्तर गुणों के प्रतिपालक तद्भव में मोक्ष की प्राप्ति करनेवाले यतीश्वरों का स्वरूप बतलाते है जो यतीश्वर समस्त प्रकारके

उपसर्ग व समस्त प्रकारकी परीषहके दुखोंका अनुभव न कर अपने स्वात्मशुद्ध स्वभावमें स्थिर रहते हैं, वचन गुप्तिका पालन करते हैं. द्वादशांग श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं, शुभ ध्यानमें तत्पर रहते हैं और परिग्रहरहित जिनलिंगको धारण करते हैं वे ही परम यतीश्वर हैं।

यद्यपि मुनीश्वरोंका बाह्य स्वरूप जिनलिंग ही है। जिन भव्य मुमुक्षु जीवोंने परिग्रह का परित्याग कर निःशल्यभावसे जिनलिंग (नग्न दिगम्बरत्व) को धारण कर मूल गुणकी आराधना की है वे ही मुनीश्वर हैं। सामान्यरूपसे सर्व मुनीश्वरों के उत्तम संहनन नहीं होता है। जिन मुनीश्वरों को उत्तम वज्रवृषभनाराच संहनन है वे उपसर्ग व समस्त प्रकार की परीषहोंको सहन कर साम्यभाव की प्राप्ति करते हैं, द्वादशांग के पाठी और भावश्रुतके धारक होते हैं।

एवं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो।
सव्वण्हुवएसेसो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥१०३॥

काय किलेश तीवर करे मिथ्याभावन जुक्त।
सर्वज्ञ को उपदेश यह सो नहि शिव सुखभुक्त ॥१०३

अर्थ - जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले भावोंको धारण करता है परन्तु काय क्लेश अत्यन्त तीव्र करता है। ऐसा जीव भी मोक्ष सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। यही सर्वज्ञ देवका उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तीव्र तपश्चरण

करने पर भी जब तक मिथ्यात्व को धारण करता है तबतक उसे कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सये किं पि।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥१०४

रागादिक मल जुगत निज रूप तनक ना दीख।
समल आरसी रूप जिम नाहि जथावत दीख ॥१०४॥

अर्थ - जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जिनका आत्मा राग द्वेष आदि दोषों से मलिन हो रहा है उस मलिन आत्मामें आत्माका यथार्थ स्वरूप कुछ दिखाई नहीं देता हैं।

भावार्थ - अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने के लिये आत्मा के निर्मल होने की आवश्यकता है क्यों कि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता हैं। जो आत्मा राग द्वेष से मलिन हैं उसमें आत्मा का अनुभव कभी नहीं हो सकता है। इसलिये साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषों का त्याग कर आत्माको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके।

दंडत्तयसल्लत्तयमंडियमाणो असूयगो साहू।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे॥ १०५ ॥

दंडशल्यत्रय मुंडियो निंदक साधु जु होय।
भंडण जाचक शील है हिंडे बहुभव सोय ॥१०५॥

अर्थ – जो मुनि मन वचन कायको अपने वशमें नहीं खते, माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों को धारण करते हैं जो दूसरों से ईर्ष्या धारण करते है जो लड़ाई झगडा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसार में दीर्घ काल तक परिभ्रमण करते हैं।

हादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।
प्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥ १०६ ॥

देहादिक अनुरत विषै लीन कषाय संजुक्त ।
सोवत आप सुभावमें सो मुनि समकित मुक्त ॥१०६॥

अर्थ - जो मुनि शरीर भोग वा सांसारिक कार्यों में अनुरक्त रहते हैं, जो विषयों के सदा आधीन रहते हैं, कषायों को धारण करते हैं और अपने आत्मा के स्वभावमें सदा सोते रहते हैं, आत्मा के स्वभाव को प्रगट करने में कभी जागृत नहीं होते ऐसे मुनियों को सम्यक्त्व रहित मिथ्या दृष्टी ही समझना चाहिये।

ारंभे धणधणणे उवयरणे कंक्खिया तहा सूया ।
गुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहुरा ॥१०७॥
नविरोहकुसीला सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा ।
याइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू ॥१०८॥

है आरंभ धनधान उपकरणइच्छा अरु जाच।
व्रतगुणशील विना कलह प्रिय कषाय बहुवाच ॥१०७॥
मूढ कुशील विरोध संघ गुरुकुल रहे स्वछंद।
राजसेव कर जिन धरम है विरोध मुनिमन्द ॥१०८॥

अर्थ - जो मुनि होकर भी किसी आरंभ की, धनकी, धान्यकी, वा किसी उपकरणकी इच्छा करते हैं, जो अन्य साधुओं से ईर्ष्या करते हैं, जो व्रत समिति गुप्ति तथा शील से रहित हैं, जो कषाय के वशीभूत हैं, कलह करनेवाले हैं, और बहुत बोलते हैं, जो संघसे विरोध करते हैं, कुशीलता धारण करते हैं, जो गुरुके आधीन न रह कर स्वतन्त्र रहते हैं, गुरुके समीप नहीं रहते अथवा गुरुकी आज्ञानुसार नहीं चलते, जो अज्ञानी हैं और राजादिककी सेवा करते हैं उन साधुओं को जिनधर्म्म के विरोधी समझना चाहिये।

जोइसविज्जामंत्तोपजीवणं वा य वस्सववहारं।
धणधण्णपड़िग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥१०९॥

ज्योतिषविद्या मन्त्र उपजीवन वर्ष व्योहार।
धनधान्यादिक प्रतिग्रहण मुनिदूसन परमाद ॥१०९॥

अर्थ -- जो मुनि जोतिष शास्त्रसे वा किसी अन्य विद्यासे वा मन्त्र तन्त्रोंसे अपनी उपजीविका करता है, जो वैश्यों के से व्यवहार करता है और धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियों को दूषित ने वाला होता है।

ावारंभरया कसायजुत्ता परिग्रहासत्ता।
ववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का ॥ ११० ॥

जुत कषाय रतपापरंभ जो परिग्रह भरतार।
प्रवर लोकव्यवहारमें साधु न समकित धार ॥११०॥

अर्थ — जो साधु पापरूप कार्योंके आरंभ करने में लीन ते हैं, जो कषाय सहित हैं, परिग्रह में सदा लीन रहते और जो लोकव्यवहार में सदा लगे रहते हैं ऐसे साधु- ंको सम्यक्त्व रहित ही समझना चाहिये।

ट्ठि-मंसलव लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा।
पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ॥ १११ ॥

अर्थ - जिस प्रकार चर्म, हड्डी, और मांसके टुकडो में भि करने वाला कुत्ता मुनिको देख कर भोंकता रहता है सीप्रकार पापी पुरुष धर्मात्माओं को देखकर भोंकता रहताहै।

सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमाहप्पं।
ब्भ णिमित्त कुणांति ते साहू सम्म उम्मुक्का ॥११२॥

इतर दर्प नहि सहि सकत अनु आप महिंत।
जीवनिमित कारज करैं ते मुनि नहिं समकिंत ॥११२॥

अर्थ — जो मुनि दूसरेके अभिमान को वा ऐश्वर्य ड़प्पन आदिको सहन नहीं कर सकता जो अपने आप अपनी हिमा प्रगट करता है और वह भी केवल जिन्हाके स्वादके

लिये। अर्थात् जो केवल स्वादिष्ट भोजन मिलने के लिये अपनी प्रशंसा करता है उस साधुको सम्यक्त्व रहित समझना चाहिये।

भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं।
झाणज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ॥

जथा लाभ लहि भुंजिए संजमज्ञान निमित्त।
ध्यान अध्ययन कारने ते मुनि शिवमगरत्त॥११३॥

अर्थ—जो मुनि केवल संयम और ज्ञान की वृद्धि के लिये तथा ध्यान और अध्ययन करनेके लिये जो मिल गया-भक्ति पूर्वक जिसने जो शुद्ध आहार दे दिया उसीको ग्रहण कर लेते हैं वे मुनि अवश्य ही मोक्ष मार्गमें लीन रहते हैं।

उवरग्गिसमणमक्खमक्खणगोयारसब्भपूरणभमरं।
णाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खु॥ ११४॥

उदर अगिनि उपशम खमन गोचर भ्रामरि पूरि।
जिहि प्रकार हित जान निज तिमि भुंजइ नित सूर॥११४

अर्थ—मुनियों की चर्य्या वा आहार लेने की विधी आचार्योंने पांच प्रकार की बतलाई है। उदराग्निप्रशमन, अक्ष-म्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी। मुनियों को इन सब भेदोंको समझना चाहिये और इन्ही के अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिये। जितने आहार से उदर की अग्नि शांत

हो जाय उतना आहार लेना अधिक न लेना उदराग्नि-प्रशमन है। जिस प्रकार गाडी को चलाने के लिये उसके पहियों की कीली पर तेल डालते है क्योंकि विना तेल के वह गाडी चल नहीं सकती उसी प्रकार यह शरीर भी विना आहार दिये चल नहीं सकता इसलिये इस शरीरको मोक्ष तक पहुंचानेके लिये आहार देना अक्षम्रक्षण विधि है। जिस प्रकार गाय को चारा डाला जाता है उस समय वह डालनेवालेकी सुंदरता वा आभूषण आदि को नहीं देखती केवल चारेको देखती है उसी प्रकार आहार के समय अमीर गरीब घरको न देखना. किसीकी सुन्दरताको न देखना केवल आहार से प्रयोजन रखना गोचरी वृत्ति कहलाती है। जिस प्रकार किसी गड्ढेको मिट्टी कूडा आदि चाहे जिससे भर देते हैं उसी प्रकार इस पेट को अच्छे बुरे चाहे जैसे शुद्ध आहार से भर लेना श्वभ्र-पूरण विधि है। भ्रमर जिस प्रकार फूलोंको कष्ट न देता हुवा रस लेता है उसी प्रकार किसी भी गृहस्थ को कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस प्रकार इन आहार की विधिओं को जान कर इनके अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिये।

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंध मसुइ चम्ममयमणिच्चमचेयणं पउणं ॥११५॥

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो ।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू ॥११६॥

रसशुक्रमज्जा अस्थिपल पूय किरिमि मलमुत्त ।
बहुदुर्गन्ध चरममय अशुचिअनित अचेतन जुत्त॥११५॥
दुखभाजन कारन कर्म भिन्न आतमा देह ।
तथा धर्म अनुठान विदि पौसै मुनि नहि देह ॥११६॥

अर्थ—यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल, मूत्र, पीव और अनेक प्रकारके कीडांसे भरा हुआ है। इसके सिवाय यह शरीर दुर्गंधमय है, अपवित्र है, चमड़े से लपेटा हुआ है अनित्य है, जड़ है और नाश होनेवाला है। यह शरीर अनेक प्रकार के दुःखोंका पात्र है, कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीर को मुनिराज कभी पालन पोषण नहीं करते हैं किंतु यही शरीर धर्मानुष्ठानका कारण है। यही समझ कर इस शरीर से धर्म सेवन करनेके लिये और मोक्षमें पहुंचने के लिये मुनिराज इसको थोड़ासा आहार देते हैं, बिना आहारके यह शरीर चल नहीं सकता और विना शरीरके धर्मानुष्ठान हो नहीं सकता वा चारित्र पालन हो नहीं सकता इसीलिये इसको आहार देकर इससे चारित्र पालन कराया जाता है। मुनिराजोंके आहार करनेका यही कारण है और कुछ नहीं।

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं विंतरो भिक्खू ॥११७॥

क्रोध कलह कर जांचिके संकलेश परिणाम।
रुद्र रोस करि भुंजए नहि साधू अभिराम ॥११७॥

अर्थ—जो मुनि क्रोध दिखलाकर आहार लेता है, कलह कर आहार लेता है। याचना कर आहार लेता है, वा संक्लेश परिणामोंको धारण करता हुआ आहार लेता है, अपने रौद्र परिणामोंसे आहार लेता है वा क्रोध करता हुआ आहार लेता है वह साधु नहीं है किंतु उसे व्यंतर समझना चाहिये।

भावार्थ—व्यंतर नीच देव होते हैं। क्रोध कलह करना, रौद्र परिणाम धारण करना, संक्लेश परिणाम करना आदि उनका कार्य रहता है। मुनियोंका यह कार्य नहीं है। इसलिये जो मुनि होकर भी ऐसे मलिन परिणाम रखता है वह नीच व्यंतरके समान है।

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥११८॥

दिव्वु तिरन सम जानिये शुद्ध है धार अहार।
तपत लोह सम पिंड तुज मुनिवर कवलहि धार ॥११८॥

अर्थ—हे मुनिवर! तेरे हाथपर रक्खा हुआ आहारका पिंड यदि तपाये हुए लोहेके गोलेके समान अत्यंत शुद्ध है तो तू उसे संसारसे पार करदेनेवाला समझकर ग्रहण कर।

भावार्थ—मुनियों को शुद्ध और निर्दोष आहार ही ग्रहण करना चाहिये तथा उस आहारको मोक्षका कारण मान कर केवल शरीरसे तपश्चरण करने के लिये और इसीलिये उसे बनाये रखनेके लिये ग्रहण करना चाहिये।

संजमतवझाणज्झयविण्णाणये गिण्हए पडिग्गहणं।
वज्जइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खू ॥११६॥

संजम तप ध्यानाध्ययन पडिगह गहै विज्ञान।
ऐते संग्रह साधुके वंचि सके दुख तानि ॥११६॥

अर्थ—साधुओंको संयम बढ़ानेके लिये तपश्चरण करने के लिये, ध्यानकी शक्ति बढ़ानेके लिये, शास्त्रों का अभ्यास करनेके लिये और तत्त्वोंका स्वरूप जाननेके लिये प्रतिग्रह (आहार स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना) स्वीकार करना चाहिये। जो साधु इन ऊपर कहे हुए कारणों को छोड़कर केवल शरीरको पुष्ट बनानेके लिये आहार लेता है वह साधु संसारके जन्ममरणरूप दुःखों से कभी नहीं छूट सकता।

अविरददेसमहव्वयआगमरुइणं विचार तच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ १२० ॥

अविरत देश महाविरत श्रुति रुचिरत्व विचार।
पात्र तु अन्तर सहसगुन कहि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टी, देशव्रती श्रावक और महा-

व्रतियोंके भेदसे आगम में रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तत्त्वों-के विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान जिनेन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है। और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र हैं। इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद है और अविरत सम्यग्दृष्टियों में अनेक भेद हैं। इस प्रकार पात्रोंके अनेकभेद हैं।

उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥१२१॥

उपशम ध्यानाध्ययन महा अवंछक दिष्ट।
जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहैं उत्कृष्ट ॥१२१॥

अर्थ—उपशम परिणामोंको धारण करने वाले, विना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं। मुनियों के इन महा गुणोंकी जैसी जैसी वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे पात्रताकी उत्कृष्टता उनमें आती जाती है। पात्रताकी उत्कृष्टता गुणोंके अधीन हैं जैसे ध्यानादिक गुण बढ़ते जायेंगे वैसेही वैसे उनमें उत्तमता आती जाती है। इस प्रकार उत्तम पात्रोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं।

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो ॥१२२॥

अर्थ—जिस मुनिका सम्यग्दर्शन अत्यन्त शुद्ध है, जो धर्मध्यान में सदा लीन रहता है, जो सब तरहके परिग्रसे रहित है और माया मिथ्यात्व और निदान रूप तीनों शल्योंसे रहित है ऐसा जो मुनि है उसको विशेष पात्र कहते हैं। जिस मुनिमें ये ऊपर कहे हुए गुण नहीं हैं वह उससे विपरीत अर्थात् अपात्र है।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जिसमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता है उसीमें पात्रपनेकी विशेषता समझनी चाहिये।

भावार्थ—जैसा जैसा सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता जाता है वैसी वैसी ही पात्रतामें विशेषता वा निर्मलता आती जाती है।

णवि जाणइ जिणसिद्धसरूव तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥ १२४॥

नहिं जाने जिन सिद्ध अरु निज स्वरूप त्रिविधेहि।
सो तप तीव्र करे तऊ भ्रमें दीर्घ भव लेह ॥१२४॥

अर्थ—जो मुनि न तो भगवान अरहंत देवका स्वरूप जानता है, न भगवान सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप जानता है और नवहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे अपने आत्माका स्वरूप जानता है वह मुनि यदि तीव्र तपश्चरण करे तो भी वह इस जन्म मरण रूप महासंसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करता है।

भावार्थ—पंच परमेष्ठीका तथा आत्माका स्वरूप जानना सम्यग्दर्शनका साधन है। जो इनका स्वरूप नहीं जानता वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकता। तथा विना सम्यग्दर्शन के तीव्र तपश्चरण करने पर भी वह संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है।

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्त ये ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं। १२५ ॥

जो निश्चय व्यवहार, रत्नत्रय जाने नहीं।
सो तप करइ अपार, मृपारूप जिनवर कह्यो ॥१२५॥

अर्थ—जो मुनि न तो निश्चय रत्नत्रयके स्वरूपको जानता है और न व्यवहार रत्नत्रयके स्वरूपको जानता है, वह जो कुछ करता है वह सब मिथ्या है, विपरीत हैं, ऐसा भगवान जिनेन्द्र-देवने कहा है।

भावार्थ—रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है। जो व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रयका पालन नहीं करता उसे मिथ्या-दृष्टी समझना चाहिये। उसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भववीयं ॥१२६।

तत्त्व सकल जाने कहा, कहा बहुत तप कीन।
जानहु समकित शुद्ध विन, ज्ञान तप जु भववीज ॥१२६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि विना शुद्ध सम्यग्दर्शनके

समस्त तत्त्वोंको जान लेनेसे भी क्या लाभ है तथा विना शुद्ध सम्यग्दर्शनके घोर तपश्चरण करनेसे भी क्या लाभ है। शुद्ध सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण समझने चाहिये।

भवार्थ—सम्यग्दर्शन के साथ साथ होने वाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, विना सम्यग्दर्शन के ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या हैं। तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण है।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं पडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीयं ॥१२७॥

व्रतगुणशील परीपजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानाध्ययन सम्यक्त्व विन भवह वीज सरवत्र ॥१२७॥

अर्थ — विना सम्यग्दर्शन के व्रत पालन करना, शील पालन करना, परीषहोंको जीतना, चारित्रका पालन करना तपश्चरण करना, छहों आवश्यकों का पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसार के कारण ही समझना चाहिये।

भावार्थ — विना सम्यग्दर्शनके ये सब मिथ्या है, इसलिये विना सम्यग्दर्शनके ये सब संसारके कारण हैं।

ाई ज . हं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
.सि जइ परलोयं तेहिं किं तुज्झ परलोयं ॥१२८॥

ख्याति पूज सत्कार लभ किम इच्छइ जोगीश।
जो इच्छइ परलोक तिहिं तें परलोक न कीश ॥१८८॥

अर्थ — हे मुनिराज! यदि तू अपने परलोकको सुधारनेकी इच्छा करता है तो फिर अपनी प्रसिद्धि की इच्छा क्यों करता है, अपना बड़प्पन प्रगट करने की इच्छा क्यों करता है, किसी के लाभ की इच्छा क्यों रखता है और किसीसे भी आदर सत्कार कराने की इच्छा क्यों करता है? हे मुनि! इन सब बातोंसे तेरा परलोक कभी सुधर नही सकता।

भावार्थ — परलोक में आत्माको सुखकी प्राप्ति होना परलोक का सुधरना है। मोक्ष की प्राप्ति आदर सत्कार या ख्याति पूजा लाभसे नही हो सकती। इसलिये इनकी इच्छा करना सर्वथा व्यर्थ है। मोक्षकी प्राप्ति रत्नत्रयसे होती है, इसलिये हे मुनिराज! रत्नत्रयका पालन कर।

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं॥

करमविभावविख्यात, चइभावेइ सुभावगुण।
रुचे शुद्ध निजआत, तिहं निश्चै निरवान हुइ ॥१८६॥

अर्थ — जो मुनिराज कर्मके उदय से होनेवाले आत्माके वैभाविक गुणोंका (राग द्वेष मोह मद मत्सर कषाय आदि भावों का) चिंतवन करता है तथा उन कर्मों के नाश होनेसे प्रगट होने वाले उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि आत्माके स्वाभाविक

गुणों का चिंतवन करता है। इन दोनोंके यथार्थ स्वरूप का चिंतवन कर जिसको अपने शुद्ध आत्मा में प्रेम होता है, जो अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करता है उसको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसवबंधणसंवरणिज्जर जाणेह किं वहुना ॥१३०॥

मूल उत्तर उत्तरउत्तर द्रव्यकर्म नहिं भाव।
आस्रव संवर निर्जरा बंध जानि वहु काव ॥१३०॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक कर्म द्रव्यकर्म कहलाते हैं, उनकीमूल प्रकृतियां ज्ञानावरणादिक हैं और उत्तरप्रकृतियां मतिज्ञानावरण आदि हैं। अवग्रह ईहा आवाय धारणा वा स्मरण चिंता आदिको आवरण करनेवाले कर्मोंको उत्तरोत्तर प्रकृतियां कहते हैं। जो मुनि मूलप्रकृति उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मोंसे सर्वथा रहित हैं और राग द्वेप आदि भावकर्मोंसे भी सर्वथा रहित हैं वे ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
वहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा ॥१३१॥

विपयविरत मुंचक्रविपय शक्त न मुंच मुनीश।
वहिरंतर परमातमा भेद जानि वहु कीश ॥१३१॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके विपयोंसे विरक्त है वह इस

द्रव्यकर्म और भावकर्मसे छूट जाता है तथा जो मुनि विषयासक्त है वह इन कर्मोंसे कभी नहीं छूट सकता। इसलिये हे मुनिराज! बहुत कहनेसे क्या लाभ है? आत्मा जो बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन प्रकार है पहले उसका स्वरूप समझ।

भावार्थ—आत्माके इन तीनों भेदोंको समझनेसे विषयोंकी आसक्ति अपने आप छूट जाती है इसलिये पहले आत्माका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

अप्पाणणाणझाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥१३२॥

आत्मज्ञानध्यानाध्ययनसुखअमृतरसपान।
त्यागि अक्षसुखभोगवे सो बहिरातम जान ॥१३२॥

अर्थ—ज्ञान ध्यान और अध्ययनसे उत्पन्न होने वाला सुख अमृतके समान है। तथा वह अमृतरूप सुख केवल आत्मासे उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मासे उत्पन्न होनेवाला वह ज्ञान ध्यानरूपी सुखामृत एक अपूर्व रसायनके समान है। इस आत्मजन्य सुखामृतरूपी रसायनके पीनेको वा अनुभवको छोड़कर जो इन्द्रियोंके सुखोंका अनुभव करता है, इन्द्रिय जन्य सुखोंमें लीन रहता है, उसे बहिरात्मा समझना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञान ध्यानको छोड़कर जो केवल इन्द्रियोंके सुखोंमें लीन रहते हैं वे बहिरात्मा हैं।

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंव चारुसुहं।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खंपि॥१३३॥

विषमोदक किंपाकफल वा इन्द्रायण मानि।
रसनासुख और दृष्टिप्रिय तथा अच्च सुख जान ॥१२३॥

अर्थ — किंपाक फल एक विपफल होता है जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और खानेमें अत्यन्त मीठा स्वादिष्ट होता है। पकनेपर वह वहुतही मीठा और सुन्दर हो जाता है। परन्तु वह विपफल है उसके खाते ही मनुष्य मर जाता है। जिस प्रकार किंपाक फल खाने में स्वादिष्ट जिन्हा को सुख देने वाला और देखने में सुन्दर होता है उसी प्रकार इन्द्रियोंके सुख क्षणमर के लिये इन्द्रियों को सुख देनेवाले होते हैं और उस समय अच्छे जान पडते हैं परन्तु जिस प्रकार किंपाक फल खानेसे मनुष्य दुःख भोगता है और मरजाता है उसी प्रकार इन इन्द्रियोंके सुखों से भी जीव अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं और दीर्घ काल तक संसारमें परिभ्रमण कीया करते हैं। अथवा विप मिले हूवे लाडू जिसप्रकार देखने में सुन्दर व खानेमें मीठे होते हैं उसी प्रकार ये इन्द्रियों के सुख हैं। उन लड्डूओं के खानेसे जैसे मनुष्य मर जाता है उसी प्रकार इन्द्रियोंके सुखों का फल भी नरक निगोद आदि योनियोमें अनेक वार मरना है। इसलिये जिसप्रकार सुख चाहने वाले मनुष्य किंपाक फल को नहीं खाते वा विप मिले लड्डुओंको नहीं खाते उसी प्रकार अक्षय सुख चाहने वाले जीवोंको इन्द्रियों के सुखों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।क। कल्याण इसीसे हो सकता है।

देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं ।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा ॥१३४॥

तन कलत्र सुत मित्र वहु चेतनरूप विभाव ।
भावइ आपनुरूप सो वहिरातमा लखाय ॥१३४॥

अर्थ — जो जीव इस शरीर को आत्मस्वरूप मानता है, स्त्री पुत्र मित्र आदि को अपने आत्म स्वरूप मानता है अथवा राग द्वेष मोह आदि आत्माके वैभाविक परिणामोंको आत्मस्वरूप मानता है वह आत्मा अवश्यही वहिरात्मा है।

भावार्थ — शरीर पुत्र मित्र कलत्र आदि सब इस आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं। राग द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भी आत्मा से भिन्न हैं क्योंकि वे कर्म के उदयसे होते हैं। जिमप्रकार स्फटिक पाशाणके पीछे लाल फूल रख देनेसे उस पाषाणमें लाली दिखाई देती है परन्तु वह लाली उस पाषाण से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार राग द्वेषादि भी कर्म के उदयसे होते हैं इसलिये वे आत्मासे भिन्न हैं यदि उनको आत्मासे भिन्न न माना जायगा तो फिर मोक्ष अवस्था में भी उनकी सत्ता माननी पडेगी, परन्तु मोक्ष अवस्थामें इनकी सत्ता नहीं रहती। कर्मों के सर्वथा नाश होनेके कारण उन राग द्वेषादिकका भी सर्वथा नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि राग द्वेपादिक भी आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं फिर भी जो इनको आत्मस्वरूप मानता है, इनको आत्माका

रूप वा आत्माका स्वभाव मानता है उसे वहिरात्मा ही समझना चाहिये। जो अपने स्वरूप को न जाने, अपने आत्माके स्वरूपसे परान्मुख हो वही वहिरात्मा है।

इंदियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं।
वहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा॥१३५॥

अक्षविषयसुख मूढमति रमंइ तत्त्व नहिं पाइ।
वहु दुख इह चिंतइ न सो वहिरातमा कहाइ॥१३५॥

अर्थ— जो अज्ञानी मनुष्य इन्द्रियों से उपन्न होनेवाले विषय सुखों में सदा लीन रहता है तथा इन इन्द्रियोंके विषयोंसे अनेक प्रकार के दुःख होते हैं इस वातका जो विचार ही नहीं करता वह आत्मतत्त्वका स्वरूप वा जीवादिक समस्त पदार्थों का स्वरूप कभी नहीं जान सकता। ऐसे अज्ञानी जीव को वहिरात्मा कहते हैं।

भावार्थ— इन्द्रियजन्य सुख नरक निगोद के कारण हैं। जो मनुष्य केवल इन्हीं में लीन रहता है और इनमें लीन रहने के कारण आम तत्त्व को भी नहीं जान सकता उसे आचार्यों ने वहिरातमा ही वतलाया है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेवहवेइ वहिरप्पा॥१३६॥

अर्थ— संसार में इन्द्रियजन्य जितने सुख हैं वे सव इस आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इस प्रकार जो मनुष्य इन इन्द्रियें

जन्य विषयों के स्वरूप का चिंतवन नहीं करता वह बहिरात्मा कहलाता है।

भावार्थ—जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है उसको उसी रूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन्द्रियजन्य सुखोंका स्वभाव आत्माको तीव्र दुःख देना है। इस बातको सब कोई जानता है। परन्तु जो अज्ञानी इन सुखोंका स्वरूप कभी चिंतवन नहीं करता तथा बिना इनका स्वरूप जाने सदा इनमें लीन रहता है वह मिथ्यादृष्टी है और इसलिये वह बहिरात्मा कहलाता है।

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पएणाएं हवेइ तत्थेव रुई।
तह बहिरप्पाएं बाहिरिंदियविसएसु होइ मई ॥१३७॥

जो अमेधि मधि उपजिके बहुरि रुचै तिहि सोय।
त्यों बाहिज बहिरात्मा अर्त्तविषय मय होय ॥१३७॥

अर्थ—जिसप्रकार जो कोई जीव विष्ठामें कीड़ा उत्पन्न होजाता है तो फिर वह उसी स्थानमें और उसी योनिमें प्रेम करने लग जाता है। उसी प्रकार जो जीव बहिरात्मा है उसे बाह्य इन्द्रियोंके विषयमें ही प्रेम हो जाता है।

भावार्थ—जो जीव आत्माके निज स्वभावको नहीं जानते वे किसी भी पदार्थके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानसकते। बहिरात्मा आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह आत्माके स्वरूप से पराङ्मुख है इसीलिये बहिरात्मा कहलाता है। ऐसा बहिरात्मा

इन्द्रियोंके सुखोंके वास्तविक स्वरूपको भी नहीं जान सकता। वे इन्द्रियजन्य सुख तीव्र दुःख देनेवाले हैं इस बातको भी वह नहीं जानता इसलिये वह इन्द्रिय जन्य सुखमें लीन रहता है। तथा इसी कारण वह फिर इस अनन्तसंसारमें परिभ्रमण किया करता है।

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइभिण्णभावमई।
भुंजइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो॥

सुपनेहु न भुंजइ विषय भिन्न भाव देहात।
रूप निजातम भुंज शिवसुखरत मध्यम आत॥१२८॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्माको शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता है तथा जो विषयोंका अनुभव कभी स्वप्नमें भी नहीं करता। जो सदा अपने आत्माका अनुभव करता रहता है और मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है। उसे मध्यम आत्मा अथवा अंतरात्मा कहते हैं।

भावार्थ—जो आत्माके निज स्वरूपको जानता है और इसीलिये जो शुद्ध सम्यग्दृष्टी है, विषयोंको इन्द्रियजन्य सुखोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न और तीव्र दुःख देनेवाले समझता है इसी-लिये जो उन विषयोंका कभी सेवन नहीं करता। वह केवल अपनी आत्माको ही अपना समझता है अतएव उसीका सदा अनुभव करता रहता है। तथा मोक्षके अनंत सुखको प्राप्त करने की सदा लालसा करता रहता है उसके लिये सदा प्रयत्न करता

रहता है और उसीकी सदा भावना रखता है एक प्रकारसे यों कहना चाहिये कि उसी मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है ऐसा सम्यग्दृष्टी आत्मा अंतरात्मा कहलाता है।

मलमुत्तघडव्व चिरं वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ।
पक्खालियसम्मत्तजलो यणाणम्मएण पुणो वि॥

चिरवासित मलमूत्रघट दुरभाजन नहिं मुंच।
तिमि पखाल सम्यक्त्वजल ज्ञान अमियकर संच॥ १३९॥

अर्थ—जिस घड़ेमें बहुत दिन तक मल मूत्र भरा रहा है उसको यदि बहुतसे जलसे भी धोया जाय तो और उसमें मुंह तक अमृत भर दिया जाय तो भी वह घड़ा अपनी चिरकाल की दुर्गंधको नहीं छोड़ सकता। थोड़ी बहुत दुर्गंध उसमें बनी ही रहती है। इसीप्रकार यह जीव अनादिकालसे इन्द्रियजन्य विषयोंका सेवन करता चला आ रहा है। यदि इसको काल-लब्धिके अनुसार सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो जाता है, उसके बलसे यद्यपि वह उन इन्द्रियजन्य विषयोंका त्याग कर देना चाहता है या त्याग कर देता है तथा अपने आत्मजन्य सुखा-मृतसे भरपूर हो जाता है तथापि अनादिकालसे लगी हुई वह विषयोंकी वासना लगी ही रहती है।

भावार्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय वा क्षयो-पशम होनेसे यद्यपि अंतरात्माके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय बना रहता है

तबतक विषयवासनाका त्याग सर्वथा नहीं होता। अनादिकाल से लगी हुई वह वासना बनी रहती है। वह वासना चारित्र मोहनीय कर्मके नाश होनेपर नष्ट होती है।

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कहंपि अणुहवइ।
केणाविण परिहारण वाहणविणासणट्ठ भेसज्जं ॥१४०॥

समदिठि ज्ञानी अक्षसुख कैसे अनुभव होइ।
काहू विधि परिहार नहिं रुजहर मूरहिं कोइ ॥ १४० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके सुखोंको अनिच्छा पूर्वक किसी भी प्रकारसे अनुभव करते हैं, जिस प्रकार कोई पुरुष रोगको दूर करने के लिये औषधिका सेवन करता है उसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन विषयोंका अनुभव करता है। जिसप्रकार औषधिका सेवन करना किसीको इष्ट नहीं है, औषधिका सेवन करना सब बुरा समझते हैं तथापि रोगके हो जानेपर उसका सेवन करना ही पड़ता है। वह औषधिका सेवन कुछ इच्छापूर्वक नहीं होता तथापि जबतक रोग है तबतक उसका त्याग भी नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष विषयों के सेवन करने को बुरा समझता है तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तब तक उनका त्याग भी नहीं कर सकता। चारित्रमोहनीय-जब मंदोदय होता है तभी विषयोंका त्याग होता है।

किं वहुणा हो तजि वहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४१॥

वहुत कहा कहिं रूप तजि सर्व भाव बहिरात ।
वस्तुस्वरूप स्वभावमइ भजि मध्यम परमात ॥ १४१ ॥

अर्थ—हे भव्य जीव! वहुत कहने से क्या लाभ है। थोड़ेसे में इतना ही समझ लेना चाहिये कि वहिरात्माके स्वरूपको धारण करनेवाले जितने भाव हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये और मध्यम आत्मा तथा परमात्माके जो यथार्थ स्वभाव हैं उन सबको धारण कर लेना चाहिये।

भावार्थ—वहिरात्माके भाव धारण करना तीव्र दुःखके कारण हैं इसलिये बहिरात्माके समस्त भावोंका त्याग कर देना चाहिये और अंतरात्मा बन जाना चाहिये। अंतरात्मा बन करके भी परमात्माका ध्यान करना चाहिये तथा अनुक्रमसे परमात्माका समस्त स्वरूप धारण कर लेना चाहिये। यही आत्माका निज स्वभाव है, शुद्ध स्वभाव है और इसीमें अनन्त सुख है।

चउगइसंसारगमणभूयाणि दुक्खहेऊणि ।
ताणि हवे वहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४२॥

चतुगतिभव कारण गमन परम महादुख देत ।
भावन वस्तुस्वरूप नहिं सो वहिरातम वेत ॥१४२॥

अर्थ—वहिरात्मा जीवोंके जो भाव होते हैं वे चारों गतिय

में परिभ्रमण करनेके कारण होते हैं और अनेक महा दुःख देने वाले होते हैं।

भावार्थ—वहिरात्मा अपने आत्माके स्वरूपसे सदा परान्मुख रहता है इसीलिये उसके जितने भाव होते हैं वे सब संसारमें परिभ्रमण करनेके ही कारण होते हैं। उन विभाव भावों के द्वारा वह चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है और अनन्तकाल तक नरक निगोद वा अन्य गतियोंके महा दुःख भोगा करता है। इसलिये वहिरात्माके भावोंका त्याग कर देना ही जीवोंका कल्याण करनेवाला है।

मोक्खगइगमणकारणभूयाणि पसच्छपुण्णहेऊणि।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४३॥

शिवगतिगमकारण जननु पुण्यप्रशस्तह हेत।
सो दो विधि आतम दरव भावसरूप समेत ॥१४३॥

अर्थ—अंतरात्मा और परमात्मा के जो वास्तविक भाव होते हैं वे मोक्षगतिमें पहुंचाने के कारण होते हैं और अतिशय पुण्य के कारण होते हैं।

भावार्थ—अंतरात्मा जीव के भाव साक्षात् पुण्य के कारण होते हैं और परंपरा से मोक्षके कारण होते हैं। इन्द्र धरणेन्द्र गणधर आदि महापुरुषों के पद अंतरात्माकोही प्राप्त होते हैं तथा अंतमें तीर्थंकर वा अन्य केवलीपद पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। परमात्मा उसी भव में सिद्ध पद प्राप्त करता है तथा

साथमें समवसरण वा गंधकुटी की अनुपम विभूतिका अनुभव करता जाता है। यह उसके सातिशय पुण्य की महिमा है। इस-लिये अंतरात्मा बनकर परमात्मा बनने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे शीघ्र ही मोक्षपद की प्राप्ति हो।

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४४॥

द्रव्य सुगुण परजाइ वित परस्वसमय वयभेव।
आतम जान सुमोक्षगति पथनायक होइ तेव ॥ १४४ ॥

अर्थ — आत्मा के दो भेद हैं। एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो अपने शुद्ध स्वभावमें स्थिर रहता है उसको स्वसमय कहते हैं और जो अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर नहीं रहता उसको परसमय कहते हैं। जो आत्मा इन दोनों प्रकारके स्वरूप को जानता है, इनके द्रव्य रूपअसंख्यातप्रदेशोंको जानता है अथवा इनको द्रव्य रूप से जानता है, इनके समस्त गुणोंको जानता है, स्वभाव—विभाव भावों को जानता है और इनकी समस्त पर्यायोंको जानता है। वह आत्मा मोक्ष तक जानेवाले मार्ग का नायक समझा जाता है।

भावार्थ — जो शुद्ध सम्यग्दृष्टी आत्मा इन दोनों का स्वरूप जानेगा वह स्वसमय अथवा परमात्मा होने का प्रयत्न करेगा। तथा जो प्रयत्न करेगा वह अवश्य ही मोक्ष पद प्राप्त करेगा। इसलिये स्वसमयका वा परमात्माके स्वरूपका जानना

अत्यावश्यक है। परमात्मा का स्वरूप जाने विना उसका ध्यान नहीं हो सकता। तथा परमात्मा का ध्यान कीये विना यह आत्मा परमात्मा बन नहीं सकता अतएव इस आत्माको परमात्माबनने के लिये परमात्मा का स्वरूप जानकर उसका ध्यान करना चाहिये। जो भव्यजीव इस प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है वह अवश्य ही मोक्ष पहुंचता है।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४५॥

वहिरंतर जिय परसमय कहें जिनेश्वर देव।
परमातम स्वसमय यह भेद सुगुन ठानेव॥ १४५॥

अर्थ — भगवान जिनेन्द्र देवने वहिरात्मा और अंतरात्मा को परसमय बतलाया है तथा परमात्मा को स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुणस्थानों की अपेक्षा समझ लेना चाहिये सो ही आगे बतलाते हैं।

मिस्सोत्ति वाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
संतोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥१४६॥

मिश्र लगै वहिरातमा अंतर तुरिय जघन्य।
मध्य संत उत्तम द्वि दशा परमसिद्ध जिन मन्य॥१४६॥

अर्थ — पहले दूसरे और तीसरे गुणस्थानों में रहने वाले वहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थान में रहने वाले सम्यग्दृष्टी व जघन्य अंतरात्मा हैं। फिर पांचवे गुणस्थान से लेकर

ग्यारहवे गुणस्थान तक ऊपर ऊपर चढते हुवे अधिक अधिक विशुद्धि धारण करते हुवे मध्यम अंतरात्मा हैं। बारहवे गुण-स्थानवर्ति जीव उत्तम अंतरात्मा हैं। तेरहवें चोदहवें गुणस्थान वर्ती केवली भगवान सकल परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी निकलपरमात्मा हैं।

मूढत्तायसल्लत्तायदोसत्तायदंडगारवत्तायेहिं।
परिमुक्को जोई सो सिवगइपहणायगो होई॥१४७॥

मूढशल्यत्रयदंडत्रय त्रयगारवत्रयदोष।
सो जोगी इनतें रहित नायक पथगति मोष॥१४७॥

अर्थ — जो योगी देव मूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता इन तीनों मूढताओंसे रहित है, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंसे रहित है राग द्वेष और मोह इन तीनों दोषों से रहित है, तीनों दंडोंसे रहित है और ऋद्धियोंका मद आदि तीनों गारवों से रहित है वही मुनि मोक्ष तक पहूंचने वाले मार्ग का स्वामी होता है।

भावार्थ — जो मुनि ऊपर कहे हुवे दोषोंका सर्वथा त्याग कर देता है वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

रयणत्तयकरणत्तयजोगत्तयगुत्तित्तयविसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई॥१४८॥

रत्नत्रय करणत्रय जोगगुप्तित्रय शुद्ध।
सो जोगी संजुगत शिव गतिपथनायक उक्त॥१४८॥

अर्थ — जो मुनि रत्नत्रयसे सुशोभित है, जो अधःकरण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों से सुशोभित है, मन वचन काय से शुद्ध है और शुद्धरीतिसे तीनों गुप्तियों का पालन करता है वह योगी मोक्ष तक पहुंचने वाले मार्ग का स्वामी होता है।

भावार्थ — जो रत्नत्रय आदिको अत्यन्त निर्मल रीतिसे पालन करता है वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

वहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥१४६॥

वहिरभ्यंतरग्रंथ विन शुद्धि जोग संयुक्त।
मूलुत्तरगुणपूर शिव गतिपथ नायक उक्त॥ १४६॥

अर्थ — जो मुनि वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित है, जो सदा शुद्धोपयोग में लीन रहता है और मूल गुण और उत्तर गुणों को पूर्ण रीतिसे पालन करता है वह मुनि अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है, इसमें किसी प्रकार संदेह नहीं है।

जं जाइजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहू॥१५०॥

जन्म जरा व्यय दुष्ट दुय अहिविष नाश करेइ।
सो संमकित शिवलाभ मुनि सुनि भावइ धारेइ॥१५०॥

अर्थ — मोक्ष को सिद्ध करने वाले हे साधु ! सुनो और और इसकी भावना करो कि यह सम्यग्दर्शन जन्म मरण और बुढ़ापा आदिके समस्त दुःखों को दूर करने वाला है भारी से भारी विघ्नोंको दूर करने वाला है और सर्प बिच्छू आदि के समस्त विषों को दूर करनेवाला है । इसके सिवाय यह सम्यग्दर्शन मोक्ष सुखको प्राप्त कराने में प्रधान कारण है यह निश्चय जानो।

कि बहुणा हो दविंदाहिंदणरिंदगणधरिंदेहिं ।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाण सम्मगुणं ॥१५१॥

बहुत कहा कहिंहुइ फनिंद इंद नरिंद गणिंद ।
पूज परम आतम जिके समकित प्रधान विंद ॥१५१ ॥

अर्थ—बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि भगवान अरहंत परमात्मा और सिद्धपरमात्मा जो देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर देवादिकके द्वारा पूज्य हुए हैं सो सम्यग्दर्शन गुणकी प्रधानतासे ही हुए हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे ही अरहंत और सिद्धपरमेष्ठी पद प्राप्त होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनको धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है ।

उवसमईसम्मत्तं मिच्छत्तवलेण पेल्लए तस्स ।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥१५२॥

उवसमसमकित चलै, पेलतु है मिथ्यात ।
होत प्रवर्ति कषाय, अवसर्पिणि दोष विख्यात ॥१५२॥

अर्थ—इस अवसर्पिणि कालमें इस कालके दोषसे मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय उपशम सम्यक्त्वको नाश कर देता है तथा कषायोंकी वृद्धि होती रहती है। अभिप्राय यह है इस अवसर्पिणीकालमें कषायोंकी वृद्धि अधिक होती है और मिथ्यात्वका प्रबल उदय रहता है जिससे उपशम सम्यक्त्व भी हो नहीं सकता और यदि होता है तो शीघ्र नष्ट होजाता है।

गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालण अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥

गुणव्रत तप प्रतिमा समिक, दिनछत भक्ष जलगाल।
दान ज्ञान-दरशन चरित, त्रेपन क्रियपाल ॥१५३॥

अर्थ—गुणव्रत, अणुव्रत, शिक्षाव्रत, तप ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करना, चार प्रकार का दान देना, पानी छान कर पीना, रातमें भोजन नहीं करना तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रको धारण करना। इनको आदि लेकर शास्त्रोंमें श्रावकोंकी तिरेपन क्रियाएं निरूपण की हैं उनका जो पालन करता है वह श्रावक गिना जाता है।

भुत्तो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोपमो यज्जे।
भुंजइ ये दुस्सीला रतपिंडं असंजंतो ॥१५४॥

भुक्त अजुक्त जुठानिये, तपशिखा शिखि मानि।
जो भुंजइ जु दुशील रत, पिंड असंजत जान ॥१५४॥

अर्थ—जिसप्रकार जलती हुई अग्निशिखामें जो डालो

सो भस्म हो जाता है उसीप्रकार जो योग्य अयोग्य सबका भक्षण कर जाते हैं तथा जो शील रहित (मूलगुण उत्तरगुणोंको न पालनेवाले) रातमें भी भक्षण करते हैं उनको असंयमी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिनके भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं है तथा जो रातमें भी भोजन करते हैं वे सब असंयमी समझने चाहिये।

णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥१५५

ज्ञान ध्यान सिधि ध्यानतैं, कर्म निर्जरा सर्व।
निर्जर फलतैं मोक्ष है, ज्ञानाभ्यास सुइ कर्व ॥ १५५ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ध्यानकी सिद्धि होती है, ध्यानसे समस्त कर्मोंकी निर्जरा होजानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये।

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥१५६॥

तप आचरण प्रवीन. संजमसम वैराग्य पर।
श्रुतभावन मइ तीन; ताते करि श्रुतभावना ॥१५६॥

अर्थ—जो मुनि आत्माके स्वरूप जाननेमें कुशल है और तपश्चरण करनेमें निपुण है उसके संयम पालन अच्छी तरह

से होता है तथा जिसके संयमका पालन अच्छी तरहसे होता है उसके वैराग्यकी वृद्धि होती है और जो श्रुतज्ञानकी भावना करता है श्रुतज्ञानका अभ्यास करता है उसके तपश्चरण, संयम और वैराग्य तीनोंकी ही प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तपश्चरण, संयम और वैराग्यकी प्राप्ति करनेके लिये सबसे पहले श्रुतज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—श्रुतज्ञान वा भगवान अरहंतदेव प्रणीत शास्त्रों का अभ्यास करने से आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्माके ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे वैराग्य संयम और तपश्चरणकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार इन सबका मूलकारण शास्त्रोंका अभ्यास है। इसलिये भव्यजीवोंको सबसे पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये।

कालमणंतं जीवो मिच्छसरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहइ सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥१५७॥

काल अनंतह जीव यह, भ्रमा पंचसंसार।
हिंडे समकित ना लहे, भवभव भ्रमण प्रकार ॥१५७॥

अर्थ—अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला यह जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनमय संसारमें परिभ्रमण करता आया है। अनंतकालमें भी इस जीवको अबतक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे फिर यह जीव पंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण नहीं करता ; परंतु यह जीव बराबर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इसको अभी तक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

सम्मद्दंसणसुद्धं जावदु लभंते हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणं सुद्धं जाव ण लभंते हि ताव दुही॥१५८॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध, जाव लाभ तावत सुखी।
नहिं समदर्शन शुद्ध, महा दुखी तावत कह्यो ॥१५८॥

अर्थ—इस जीवको जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तभीसे यह जीव सुखी परम सुखी हो जाता है तथा जबतक इस जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती तबतक यह जीव महा दुखी रहता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन ही समस्त सुखोंका कारण है तथा सम्यग्दर्शनका न होना वा मिथ्यात्वका होना समस्त दुःखोंका मूल है।

किं बहुणा वयणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्तविणा।
सम्मत्तेण संजुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु ॥१५९॥

बहुत बचन करिके कहा, बिन समकित सब दुक्ख।
जो समकित संजुगत तो, जानि येह सब सुक्ख ॥१५९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि वचनोंके द्वारा बहुत कहनेसे

क्या लाभ है। बस इतना ही समझ लेना चाहिये कि बिना सम्यग्दर्शनके इस संसार में चारों ओर सब दुःख ही दुःख हैं तथा यदि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाय तो फिर सर्वत्र सुख ही सुख हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ही सुख है क्योंकि अनंत सुखका कारण है और मिथ्यात्व ही दुःख है क्योंकि अनंत कालतक होने वाले तीव्र दुःखोंका कारण है।

णिक्खेवणयप्पमाणं सद्दालंकार छंदलहि पुणं।
नाटयपुराणकम्मं सम्मविणा दीहसंसारं ॥१६०॥

नय प्रमाण निक्षेप छंद लहि शब्दालंकार।
नाटक पुराण कर्म समकित विन बहु संसार ॥१६०॥

अर्थ—यदि कोई जीव प्रमाण नय निक्षेपका स्वरूप अच्छी तरह जानता हो, छंद, शब्दालंकार, अर्थालंकार, नाटक, पुराण अच्छी तरह जानता हो तथा अन्य कितने ही कार्यों में निपुण हो तथापि बिना सम्यग्दर्शनके उसे दीर्घसंसारी ही समझना चाहिये।

भावार्थ—कोई चाहे जैसा विद्वान् क्यों न हो तथापि बिना सम्यग्दर्शनके उसे अनंतकाल तक बराबर संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है। संसारसे पार कर देने वाला एक सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शनके सिवाय अन्य किसीसे भी ... की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वसहोपडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंगजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुयंजाते कप्पडे पुच्छे ॥१६१॥

पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं ण मुंचदि ताव ण हु सोक्खं ॥१६२॥

वसत पडिम उपकरण गण, गच्छसमय संघ जाति ।
कुल शिष प्रतिशिष छात्र सुत, जात सुपट पुथभांति ॥१६१॥

पिच्छि सांथरउ त्यागसुख, लोभ करइ ममकार ।
तावत आरत रुद्र न मुंचइ सुख नहिं, अनगार ॥१६२॥

अर्थ—वसितका, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पौत्र, कपड़े पुस्तक, पीछी, संस्तर (बिछौना) पिच्छी आदिमें लोभसे जो साधु ममत्व करता है तथा ममत्व करनेके कारण जबतक आर्तध्यान और रौद्रध्यान करता है तब तक क्या वह मोक्षके सुखसे वंचित नहीं रहता? नहीं नहीं; वह अवश्य वंचित रहता है।

भावार्थ — जो मुनि किसीसे भी ममत्व करता है वह मोक्ष के सुखसे अवश्य वंचित रहता है उसे मोक्षका सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स ।
संगो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥१६३॥

रत्नत्रय ही गण जु गच्छ, गमन करन शिवपंथ।
संघ समूह जु गुणमय, निर्मल आतमपंथ ॥१६३॥

अर्थ — मोक्ष मार्ग में गमन करने वाले साधुका रत्नत्रय ही गण और गच्छ है तथा गुणों का समूह ही संघ है, निर्मल आत्मा ही समय है।

भावार्थ — साधुओंको रत्नत्रय से, उत्तम क्षमा आदि गुणोंसे और निर्मल आत्मा से प्रेम करना चाहिये। इन में सर्वथा लीन हो जाना चाहिये। यही साधु का गण है यही संघ है और यही समय है इन्हींमें लीन होनेसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिणलिंगधरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई ॥१६४॥

जिन लिंगी जोगी जुगत, सम्यक्ज्ञान विराग।
परम विरागी मोक्षगति, पथनायक होइ जाग ॥१६४॥

अर्थ — जिस मुनिने जिनलिंग धारण कीया है, नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की है, जो आत्मज्ञानसे परिपूर्ण है, परम वैराग्य को धारण करता है, जिसका सम्यग्दर्शन अत्यंत शुद्ध है और जो राग द्वेष से सर्वथा रहित है, उत्कृष्ट उपेक्षा भाव व वीतराग भाव को धारण करता है ऐसा मुनि मोक्ष का स्वामी अवश्य होता है।

भावार्थ — सम्यग्दर्शन की अत्यन्त शुद्धता दिगम्बर

अवस्था और परम वैराग्य ये सब मोक्ष प्राप्ति के साक्षात् कारण हैं ।

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरोहवित्तिचारित्तं ।
गुणसीलसहाव उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥ १६५ ॥

सभकित ज्ञान विराग तप, भाव अवंच्छक वृत्ति ।
शील सुभाव चरित्रगुण, रयणसार यह दित्ति ॥१६५॥

अर्थ — जिसमें रतनत्रयका वर्णन कीया गया है ऐसा यह रत्नसार वा रयणसार नामका ग्रंथ सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराता है, सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कराता है, वैराग्य उत्पन्न करता है, तपश्चरण की वृद्धि करता है, सब तरह की इच्छाओं से रहित ऐसे वीतराग चारित्र को बढ़ाता है, उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, उत्तर गुणोंकी और भावनाओं की वृद्धि करता है और आत्मा के स्वभाव की वृद्धि करता है।

भावार्थ — इस रणयसार ग्रंथ के पढ़नेसे मनन करने से और इसके अनुकूल अपनी पूर्ण प्रवृत्ति करनेसे मोक्षके समस्त साधनों की प्राप्ति हो जाती है। तथा उन साधनों के प्राप्त होनेसे शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ णहु पढइ
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुद्दिट्ठी॥ १६६ ॥

यहें ग्रंथ जो नहि दिखइ नहि माने न सुणेइ ।
चिंतइ भावइ पढइ नहि होइ कुदिट्ठी जेइ ॥ १६६ ॥

अर्थ — जो मनुष्य इस ग्रंथ को न देखता है न मानता है, न सुनता है न पढ़ता है न चिंतवन करता है और न इसकी भावना करता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं॥ १६७।

रयणसार यह मह सजन ग्रंथ तिरालस निन्ति।
पढ़ह सुनइ जो धर्णये भावइ लहइ निर्वृत्ति॥ १६७॥

अर्थ — यह रयणसार नाम का ग्रंथ बड़े बड़े सज्जनों के द्वारा पूज्य है ऐसे इस ग्रंथ को जो पुरुष आलस छोड़कर प्रतिदिन पढ़ता है सुनता है, और इसकी भावना करता है इसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करता है वह अविनश्वर मोक्ष-स्थान को अवश्य प्राप्त होता है।

इति समाप्त

ॐ श्री पंच परमेष्ठि स्तुति ॐ

इन्द्र नागेंद्र दें छत्र त्रय जास सिर,
पंच कल्याण आनंद को प्राप्तकर।
दर्शनं ज्ञानध्यानं अनंतं वलं
वे जिनाधीश दें मोहि वर मंगलं ॥१॥
जन्म-जरा मरण रूपी नगर तीन को,
शुक्ल ध्यानाग्नि से दग्धकर दीन सो।
पाय अविनाशि पद थान निर्वान को,
ते प्रभू सिद्ध दें मोहि वर ज्ञान को ॥२॥
पंचधा साधि तप कर्म-वन दाहते,
जे श्रुतज्ञान सागर हि अवगाहते।
आश तजि साधते मोक्षके कार्य को,
मोक्ष लक्ष्मी हमें देंहि आचार्य सो ॥३॥
घोर संसाररूपी महा भीम वन,
पापरूपी वसे सिंह क्रूरानन।
इष्ट पथ को बता भव्य समुदाय को।
सो नमूं मैं सदा श्री उपाध्याय को ॥४॥
उग्र-तप करत क्षीणांग जिनको भयो,
धर्म शुक्लादि में चित्त लय होगयो।
निर्भरं तप-सिरी कीन आलिंगनं,
ते प्रभू साधु दें मुक्ति आनंदनम् ॥५॥
पंच परमेष्टिथुति एम करि वंदते
भीम संसार भारी लता छिंदते।
कर्म कांतार को शीघ्र ही दाहते,

ये हि परमेष्ठिपद पूज्य गुणधार हैं,
सर्व हितकार हैं, सार संसार हैं।
पोत ज्यों सिंधु संसार उत्तार हैं,
ज्योरि दो हाथ मेरो नमस्कार है ॥७॥
सर्वथा दीनके येहि आधार हैं,
मीन को मुख्य आधार ज्यों वारि है।
भक्तभय भंजने नाथ आधार हैं,
हन्त भूभार हैं, सन्त सुखकार हैं ॥८॥
श्री प्रभू पंच--परमेष्ठि जैवंत हों,
मुक्तिश्री - कान्त सर्वष्ट जैवन्त हैं।
विश्व चूडामणी देव जैवन्त हैं,
सार त्रैलोक्यमें एहि जैवंत हैं ॥९॥
जा प्रसादं स्वरूपानुभौ प्राप्त हो,
दिव्य ज्योती जगै व्याधि भौ (भय) शांत हो।
दुष्ट कर्माष्टकी सृष्टि का नाश हो,
केवलं ज्ञान मार्तण्ड परकाश हो ॥१०॥
पूज्य स्वामी प्रभू ही दयामूर्ति हैं,
आप ही से सदा श्रेयकी पूर्ति हैं।
स्वामि ऐसी दया होय या दास पर,
पाद पद्मानुरागी रहै ज्यों भ्रमर ॥११॥

दोहा

पंच परम पद ही सदा, त्रिभुवनमें उत्कृष्ट।
इनकी भक्ति प्रसाद तैं, पावै पद जिय इष्ट ॥१२॥

❀ इति पंच परमेष्ठी स्तुति संपूर्ण ❀

पवित्र प्रेसमें छपे ग्रंथोंका स्वाध्याय कीजिये

तत्त्वार्थ राजवार्तिक छह खंड।

यह श्रीमद् भट्टाकलंक विरचित श्रीतत्त्वार्थसूत्रके भाष्य तत्त्वार्थ राजवार्तिकालंकारका हिंदीमें सुविस्तृत अनुवाद है। इसका स्वाध्याय करनेसे सूत्रजीकी गंभीरताका ज्ञान होता है प्रत्येकमंदिरजीमें विराजमान होना चाहिये। न्योछावर ४०) चालीस रुपया। पोष्टेज अलग।

लाटी संहिता

श्रावकों के आचार विचारों का वर्णन करने वाला विस्तृत ग्रंथ न्योछावर ७) सात रुपया।

सुभाषित रत्न संदोह।

उपदेशी ग्रंथ श्रीमदाचार्य अमितगति ने संस्कृत में लिखा है। इसमें मूल तो है हीं, हिंदी भाषा का अनुवाद भी है; न्योछावर ३॥) साढे तीन रुपया।

श्रीपार्श्व नाथ चरित।

श्री वादिराज सूरि विरचित संस्कृत मूल और हिन्दी भाषा का अनुवाद। की० ३॥) साढे तीन रुपया।

बडा जिनवाणी संग्रह।

संस्कृत हिन्दी की समस्त पूजाएं इसमें हैं औरों के संग्रह की तरह अन्य पाठ तो हैं ही। मोटे अक्षर। की० ४) रुपया।

इनके अलावा गोम्मटसार जी आदि अनेक ग्रंथ हैं बड सूचीपत्र मंगाइये।

संस्थाके पदाधिकारी बनिये।

(१) संरक्षक—एक साथ १५००० पंद्रह हजार रुपया जैन शास्त्रोंके प्रकाशनार्थ जो प्रदान करते हैं वे होते हैं। इनके नामसे स्वतन्त्र ग्रन्थमाला निकाल दी जाती है इनका सचित्र परिचय उस ग्रंथमाला में सदा छपता रहता है।

(२) परम संस्थापक—एक साथ दसहजार रु० शास्त्रप्रचारार्थ जो दान देते हैं वे होते हैं। इनके दानसे छपने वाले ग्रन्थोंपर इनका नाम सदा छपता रहता है।

(३) संस्थापक—एक साथ ५०००) पांच रु० प्रदान करने वाले होते हैं और इनके द्रव्यसे छपने वाले ग्रन्थों पर इनका नाम छपता रहता है।

(४) पोषक—एक साथ ३०००) तीन हजार रुपया प्रदान करने वाले होते हैं और इनके द्रव्य से छपने वाले ग्रन्थों पर इनका नाम छाप दिया जाता है।

(५) सहायक—वे होते हैं जो कम से कम दो हजार रुपया देते हैं और इनके द्रव्यसे छपे ग्रन्थ पर इनका नाम छाप दिया जाता है

ऊपर लिखे दानी संस्थाके प्रबंधकारिणी समितिके सदस्य सदा रहेंगे तथा संरक्षक, परमसंस्थापक, और संस्थापक ये तीन पदाधिकारी ट्रस्टी (सत्वाधिकारी) भी होंगे।